शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 15 अंक 87 (मूल क्रमांक 144)
जनवरी-फरवरी 2023 मूल्य: ₹ 50.00

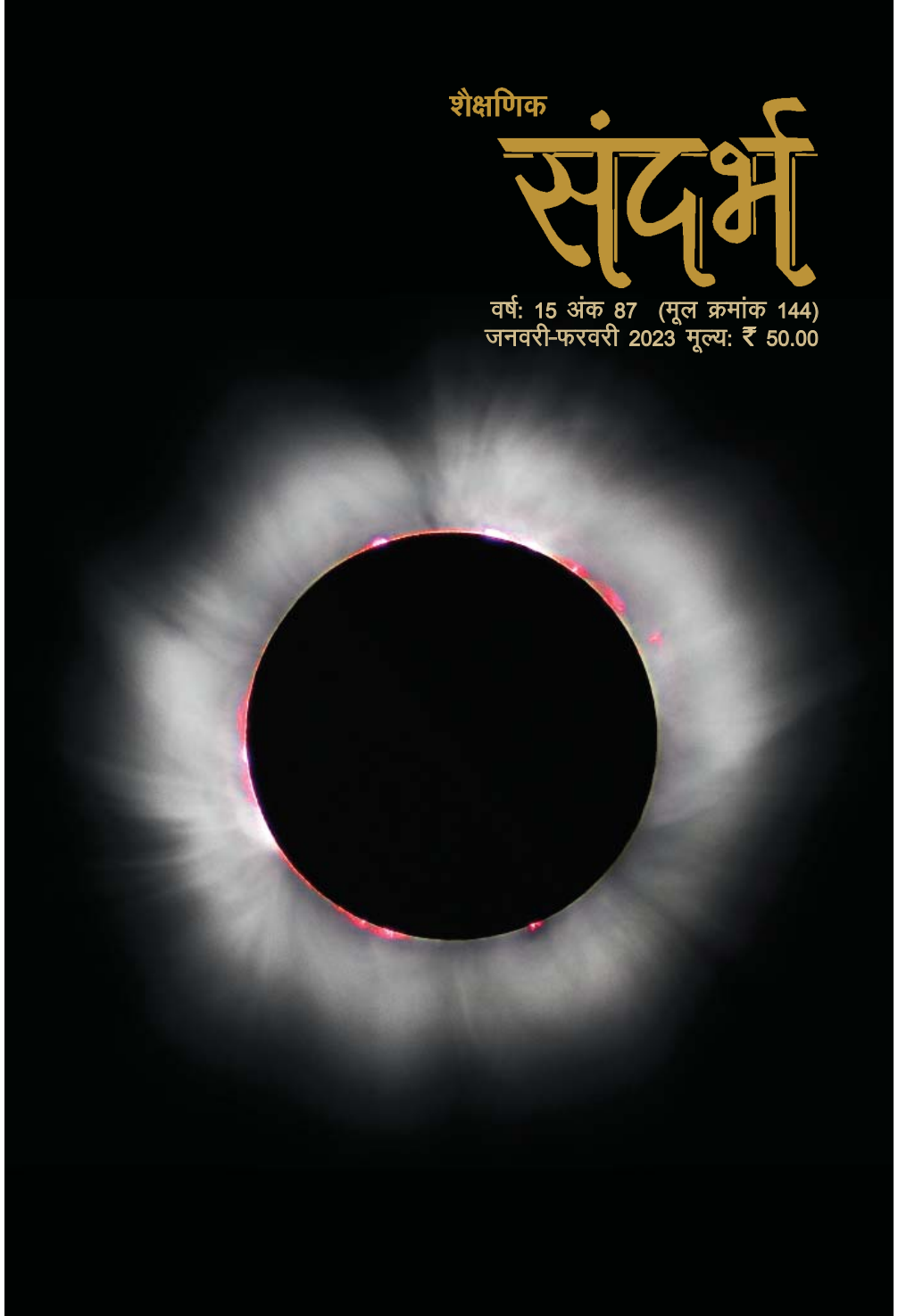

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

प्रबन्धकीय सह-सम्पादक
पारुल सोनी

सहायक सम्पादक
अतुल वाधवानी

सम्पादकीय सहयोग
सुशील जोशी,
उमा सुधीर

आवरण
कनक शशि

वितरण: झनक राम साहू

सहयोग
अनमोल जैन, श्रेया,
कमलेश यादव

शैक्षणिक
संदर्भ

वर्ष: 15 अंक 87 (मूल क्रमांक 144)
जनवरी-फरवरी 2023

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 4200944
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी रजिस्टर्ड पोस्ट से इसलिए सदस्यता शुल्क में वृद्धि की जा रही है।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	450.00	1200.00	8000.00

मुखपृष्ठ: पूर्ण सूर्य ग्रहण की तस्वीर। क्या आप जानते हैं, हीलियम नाम के पदार्थ की खोज के पीछे ऐसे ही एक सूर्य ग्रहण का हाथ था? पृथ्वी से कई-कई प्रकाश-वर्ष दूर टिमटिमाते तारे आखिर किन पदार्थों से बने होते हैं? उन तारों तक पहुँचे बिना ही हम उन पदार्थों का पता कैसे लगा सकते हैं? जानिए, ऐसे ही कुछ दिलचस्प सवालों के जवाब सम्बन्धित लेख में, पृष्ठ 28 पर। और क्या पता कि यह पढ़ने के बाद आप भी किसी तारे के बाल की खाल निकालने के लिए निकल पड़ें!

पिछला आवरण - पहले चित्र में राजस्थान के एक स्कूल की छात्राएँ नापने की टेप बनाते हुए (फोटो - दीपक वर्मा)। दूसरे चित्र में, महज़ कागज़ के कप और धागों से बने पारम्परिक टेलीफोन-नुमा खिलौने का लुत्फ उठाते आश्रमशाला, महाराष्ट्र के बच्चे (फोटो - मोहित वर्मा)। दोनों ही चित्रों में, साधारण-सी चीज़ों से बने खिलौनों से स्कूली बच्चे खेल रहे हैं। कबाड़ से खिलौने बनाने वाले मशहूर अरविन्द गुप्ता का मानना है कि रोज़मर्रा की वस्तुओं से भी बच्चों के लिए नायाब खिलौने बनाए जा सकते हैं, जो जीवन भर उनकी विज्ञान और जिज्ञासु-प्रवृत्ति को ज़िन्दा रख सकते हैं। जानिए, अरविन्द के साथ एक साक्षात्कार में कि वे कैसे विज्ञान पढ़ाने के लिए कबाड़ से बने खिलौनों की हिमायत करते हैं, पृष्ठ 55 पर।

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINK : Cover 1: By Luc Viatour, CC BY-SA 3.0, https://commons.wikimedia.org/w/index.php?curid=60793

हमारा आगामी प्रकाशन

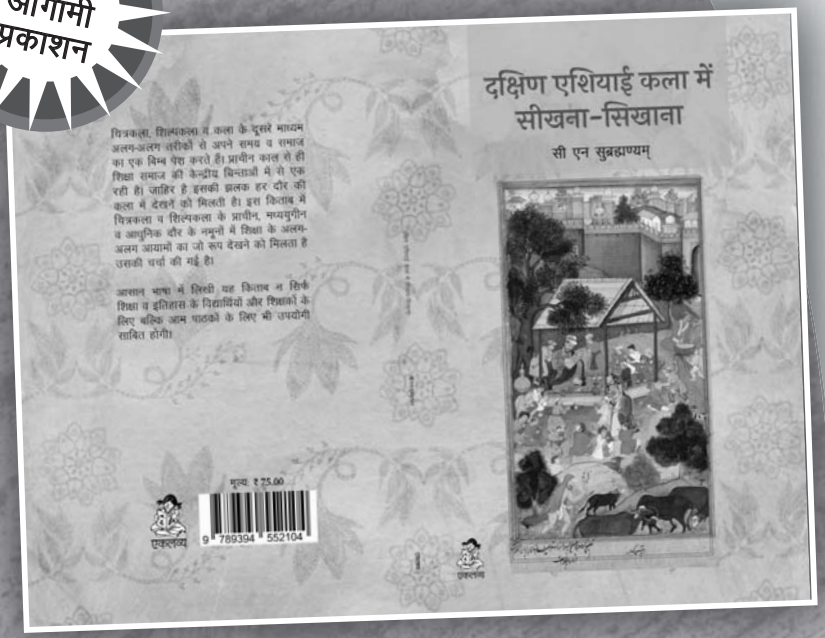

दक्षिण एशियाई कला में सीखना-सिखाना

सी एन सुब्रह्मण्यम्

इस किताब में चित्रकला व शिल्पकला के प्राचीन, मध्ययुगीन व आधुनिक दौर के नमूनों में शिक्षा के अलग-अलग आयामों का जो रूप देखने को मिलता है, उसकी चर्चा की गई है।

आसान भाषा में लिखी यह किताब न सिर्फ शिक्षा व इतिहास के विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए बल्कि आम पाठकों के लिए भी उपयोगी साबित होगी।

अपनी ऑर्डर लिस्ट में शामिल करें।

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें -
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in; ईमेलः pitara@eklavya.in
ऑनलाइन ऑर्डर करने के लिएः www.eklavyabooks.in

एकलव्य

कुदरत के सच और समाज

15

लाल्टू द्वारा दिया गया यह व्याख्यान *एकलव्य* के 40 साल और होविशिका के 50 साल के उपलक्ष्य में राज्य संग्रहालय, भोपाल में आयोजित 'होविशिका व्याख्यान शृंखला' में दिया गया था। इसमें वे साझा करते हैं कि वे होविशिका से कैसे जुड़े और किसने उन्हें इसके लिए प्रेरित किया। इसके अलावा वे विज्ञान की आलोचना की बात भी करते हैं। आज के समय में जब विज्ञान और टेक्नोलॉजी के बिना जीवन असम्भव हो गया है, यह भी ज़रूरी है कि हम कुदरत के प्रति सचेत हों, और मान्य सिद्धान्तों पर सवाल खड़े करें। आज विज्ञान के क्या मायने हैं, उनमें किस प्रकार बदलाव आ रहे हैं और आने चाहिए, और किस तरह से मानविकी विज्ञान से कमतर नहीं है, इन सब बिन्दुओं पर इस व्याख्यान में चर्चा की गई है।

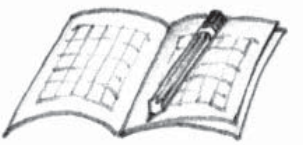

अपना भविष्य बदलने के लिए हमें बच्चों को...

49

युवाल नोआ हरारी का यह लेख इतिहास के ज़रिए भविष्य को सुधारने की बात करता है। इतिहास से किसी को भी वंचित नहीं रखा जा सकता, खासकर बच्चों को जिनके मन में 'क्यों' नाम कि चिड़िया उड़ती ही रहती है। ऐसी स्थिति में उन्हें इतिहास किस तरह पढ़ाया जाए ताकि वे इससे आतंकित भी न हों और इसे महज़ अतीत का अध्ययन भी न समझें। यह लेख न सिर्फ बच्चों को इतिहास के मिथकों से महफूज़ रखने के बारे में बात करता है बल्कि इतिहास के ज़रिए पुराने टकरावों से मुक्त होकर, नए सामंजस्यों को गढ़ने पर भी ज़ोर देता है। आज के इस नवयुग में अगर हम अपना भविष्य उज्ज्वल करना चाहते हैं तो इतिहास को पहले एक नए नज़रिए से देखने की ज़रूरत है, और यह लेख उसी नज़रिए की तरफ बढ़ाया हुआ एक कदम है।

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-87 (मूल अंक-144), जनवरी-फरवरी 2023

इस अंक में

05 | कौन हारा, कौन जीता?
कालू राम शर्मा

15 | कुदरत के सच और समाज
लाल्टू

28 | हम कैसे जानते हैं कि तारे किन चीज़ों से बने हैं?
राजाराम नित्यानन्द

31 | बेटा करे सवाल
अंजू गोस्वामी, गायत्री यादव, दीक्षा यादव

37 | मेरी शिक्षण यात्रा
एकता चौरे

43 | बातचीत और अवलोकन
शलाका गायकवाड

49 | अपना भविष्य बदलने के लिए हमें बच्चों को इतिहास...
युवाल नोआ हरारी

55 | कबाड़ से जुगाड़: विज्ञान पढ़ाने का सबसे सरल तरीका!
अरविन्द गुप्ता के साथ बातचीत

68 | टॉफी
लाल्टू

75 | इंडेक्स: अंक 139-144

83 | कबूतर या पक्षी कंकड़ को कैसे पचाते हैं?
सवालीराम

आज ही ऑर्डर करें

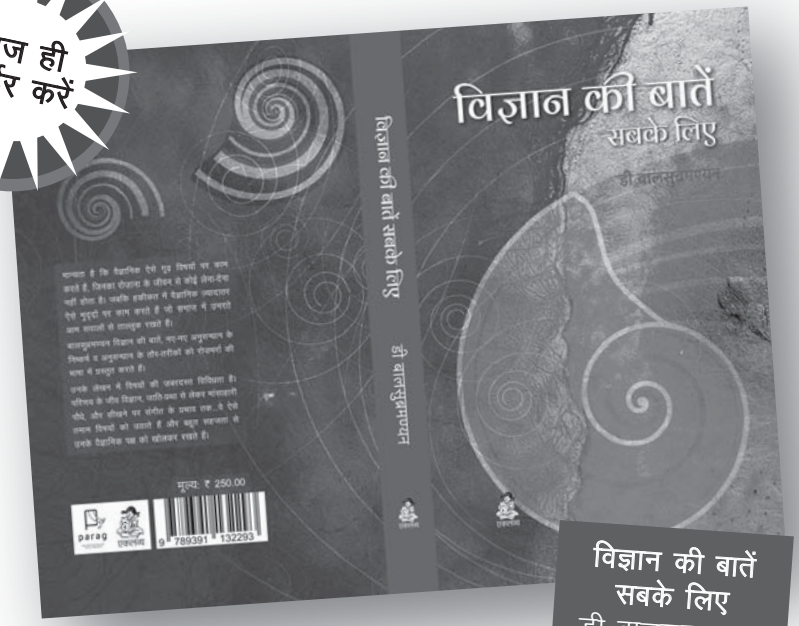

विज्ञान की बातें
सबके लिए
डी बालसुब्रमण्यन
मूल्य: ₹ 250

मान्यता है कि वैज्ञानिक ऐसे गूढ़ विषयों पर काम करते हैं, जिनका रोज़ाना के जीवन से कोई लेना-देना नहीं होता। जबकि हकीकत में वैज्ञानिक ज़्यादातर ऐसे मुद्दों पर काम करते हैं जो समाज में उभरते आम सवालों से ताल्लुक रखते हैं।

यह किताब जीवन के कुछ आम सवालों - परिणय के जीव विज्ञान, जाति-प्रथा से लेकर मांसाहारी पौधे, और सीखने पर संगीत के प्रभाव तक... ऐसे तमाम विषयों व उनके वैज्ञानिक पक्ष को खोलती है।
विज्ञान में रुचि रखने वालों के साथ ही जो रुचि नहीं रखते, उनके लिए भी यह किताब बहुत उपयोगी है, इसलिए ज़रूर पढ़ें...

ऑर्डर के लिए सम्पर्क करें-
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in; ईमेलः pitara@eklavya.in
ऑनलाइन ऑर्डर करने के लिएः www.eklavyabooks.in

एकलव्य

कौन हारा, कौन जीता?

कालू राम शर्मा

"अगर पूछूँ कि अगले साल बरसात अच्छी होगी या कम, तो तुम्हारा जवाब क्या होगा?" मास्साब ने अगला सवाल भी साथ-साथ पूछ डाला। "इस साल आम के पेड़ पर मोहर आएँगे या नहीं, तो तुम क्या कहोगे?"

चन्दू मास्साब के मूड को पढ़ने की कोशिश कर रहा था। वह कुछ बोले इसके पहले ही विष्णु बोल पड़ा, "मास्साब, बरसात तो दो साल से अच्छी हुई है। इस साल भी मानकर चलो कि अच्छी ही होगी।"

चन्दू सोच रहा था कि जब पहले सवाल का जवाब विष्णु ने दे ही दिया तो अब वह क्या कहे। फिर भी चन्दू को लगा कि उसे जवाब देना चाहिए। "अन्दाज़न अच्छी बरसात होगी... अन्दाज़न कम भी हो सकती है।" यह कहते हुए वह आत्मावलोकन कर रहा था कि उसका जवाब तो गोलमोल ही है।

चन्दू का जवाब सुनकर मास्साब की हँसी मूँछों में से उछलकर उनके पूरे चेहरे पर छा गई। बच्चों में संकोच व भय की उन हदों को मास्साब ने पिछले ढाई सालों में तोड़ने में कामयाबी हासिल कर ली थी जो उनके कक्षा में सवाल करने और जवाब पूछने में पहाड़-सी बाधक बनती थी। वैसे सवाल करने की बाधाएँ तो शिक्षक समुदाय में भी काफी व्याप्त हैं। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में सवाल पूछने की संस्कृति को शिद्दत से स्वीकार कर पोषित किया गया था। मास्साब समझ चुके थे कि चन्दू का जवाब गोलमोल है मगर वह बेबाकी से अपनी बात को कह पाने का साहस पैदा कर पाया, यह एक उपलब्धि कही जा सकती है।

चन्दू ने सोचा कि क्यों न 'आम' वाले सवाल का जवाब भी दे ही दिया जाए। "मास्साब, आम पर मोहर तो

खूब आए। आम बनेंगे कि नहीं इसका क्या भरोसा!"

"अच्छा! तो औरों का क्या कहना है?" मास्साब कक्षा के अन्य बच्चों के जवाबों का इन्तज़ार कर रहे थे। केशव, जो कि अक्सर गम्भीर रहता है, उसने सोचा कि इस तरह के सवाल पर कुछ तो कहा जा सकता है।

"बरसात के चांस तो बनते हैं, मास्साब। गए साल आम ज़्यादा आए थे। इस साल आम पर मोहर कम आने की सम्भावना है।" केशव ने बड़ों से सुना है कि आम के पेड़ों पर तीसरे साल आम ज़्यादा लगते हैं। बीच के साल में आम कम आते हैं। उसने आम के पेड़ों पर कम आम आने का एक और कारण बताया। कभी मावठा हो जाए तो मोहर झड़ सकते हैं।

"ये महीना चल रहा है फरवरी का। आम पर मोहर तो आ ही रहे हैं। तुमने भी देखे होंगे कि बाग के कुछ आम के पेड़ों पर मोहर आ चुके हैं। तो अब अपने अवलोकनों से बताओ कि आम पिछले साल की तुलना में अधिक आएँगे या कम?" मास्साब ने और सोचने को प्रेरित किया।

"गए साल के मुकाबले इस बार मोहर कम आए हैं। अगर आँधी चल जाए, बीमारी लग जाए तो आम कम आएँगे।" एकटूक जवाब भागचन्द्र ने दिया।

मास्साब विषय का सन्दर्भ बनाने में काफी हद तक सफल हो चुके थे। चर्चा को यहीं रोक बच्चों को बाल विज्ञान निकालने को कहा।

मास्साब ने पाठ में दिए गए उदाहरण पर चर्चा प्रारम्भ की। उदाहरण भटे से सम्बन्धित था। मास्साब ने इसे एक साँस में पढ़ डाला, "एक किसान ने अपने खेत में भटे की एक ऐसी किस्म लगाई जिसके प्रत्येक पौधे में औसतन आठ भटे लगते हैं।" इस जानकारी के बाद एक सवाल दिया गया था जिसे मास्साब ने पढ़ा, "हाँ, तो अब सवाल है। ज़रा ध्यान-से सुनना। यदि इस किस्म का एक पौधा फूल लगने से पहले तुम्हें दिखाकर पूछा जाए कि इस पौधे में कितने भटे लगेंगे तो क्या तुम इसकी पक्की भविष्यवाणी कर सकते हो? कारण सहित उत्तर दो।"

मास्साब बच्चों के जवाबों की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने इस सवाल पर टोलियों में चर्चा के लिए कहा।

टोलियों के जवाब आने लगे। एक टोली के बच्चों ने सोचकर जवाब दिया, "मास्साब, पौधे को देखकर ही बताया जा सकता है। पौधा अगर अच्छा होगा तो भटे आठ से ज़्यादा भी लग सकते हैं। कोई पौधा थोड़ा छोटा होगा तो उसमें कम भटे लगेंगे।" मास्साब को इस टोली का जवाब रास आया।

मास्साब को इसी अध्याय पर आगे बढ़ना था लेकिन नारंगी बुदबुदाई कि पाठ में शुरुआती भाग छोड़ क्यों दिया? बोर्ड को साफ करते हुए

मास्साब के कान कक्षा को सुन रहे थे। वे पलटे और उन्होंने नारंगी की ओर देखकर कहा, "अगर तुम चाहती हो तो इसको भी पढ़ लिया जाएगा।" मास्साब ने यह हिस्सा इसलिए छोड़ दिया था कि अध्याय की भूमिका जिस घटना से शुरू होती है, वह बच्चों के सन्दर्भ से नहीं जुड़ती। रेल और जिन स्टेशनों की बात की गई है, वह होशंगाबाद ज़िले में आते हैं। पिछली बार जब मास्साब ने बच्चों को पढ़ाया था तब उनका अनुभव यह रहा था कि बच्चे रेल और उन स्टेशनों के बारे में जानते नहीं, इसलिए इस घटना के बारे में समझ नहीं पाए थे।

सम्भावना की समझ

नारंगी के आग्रह पर अध्याय के प्रारम्भिक हिस्से पर चर्चा शुरू की गई। इस घटना में दो रेलों का ज़िक्र है। बताया गया है कि इटारसी-इलाहाबाद रेलवे लाइन पर होशंगाबाद ज़िले में बनखेड़ी रेलवे-स्टेशन पर एक रेल 'बीना एक्सप्रेस' रोज़ाना ही 20-45 मिनट लेट आती है। कभी-कभी बिलकुल समय पर आ जाती है, और महीने में एक या दो बार एक-दो घण्टा लेट भी हो जाती है। एक अन्य रेल 'इलाहाबाद-इटारसी' का समय रेलवे टाइम-टेबल में लिखने मात्र के लिए ही है। महीने में कई दिन दो-चार घण्टे लेट होना आम बात है। कम-से-कम एक-आधा घण्टा लेट होना तो आम बात है। महीने में एकाध बार समय पर आकर सबको अचरज में डाल देती है।

इन दो घटनाओं पर बच्चों के सामने कुछ सवाल रखे गए। पहला सवाल कि "एक सज्जन 'बीना एक्सप्रेस' पकड़ने के लिए बनखेड़ी स्टेशन पर एक घण्टा लेट पहुँचे। तर्क सहित बताओ कि उन्हें रेल मिलेगी या नहीं?" कक्षा असमंजस में पड़ गई। मास्साब ने अभी दूसरी रेल को लेकर सवाल रोक लिया था।

कक्षा में सन्नाटा छा गया था। सभी सोच में डूबे थे। दरअसल, घटना अभी भी बच्चों को समझ में नहीं आई थी। शिक्षक ने जानकारी को बोर्ड पर लिख दिया। बोर्ड पर लिख देने से समझना आसान हो गया।

कक्षा के सन्नाटे को केशव ने तोड़ा। "मिल सकती है ट्रेन उस आदमी को।"

"क्यों मिल सकती है ट्रेन उस आदमी को? तर्क दो।"

केशव के बदले जवाब नारंगी ने दिया, "चांस बनते हैं उसको रेल मिलने के। महीने में एक-दो बार रेल एक-दो घण्टा लेट होती है। इस कारण से उस आदमी को रेल मिल सकती है।"

"नहीं भी मिल सकती है। महीने में एक-दो बार ही तो लेट होती है।" केशव का जवाब था।

"हाँ, नहीं मिल सकती। क्योंकि कभी-कभी तो अपने टाइम पर ही आ जाती है।" विष्णु का जवाब भी उस घटना के विवरण में से उपजे तर्क पर आधारित था।

टोलियों में चर्चा उफान पर थी। एक टोली में चर्चा इस पर हो रही थी कि अगर वह आदमी उसी दिन लेट हो जाए जिस दिन रेल भी देर से आ रही हो, तो? फिर तो उसको रेल मिल जाएगी। ये तो किस्मत की बात है। मास्साब उस टोली की बात को सुन रहे थे। वे अब टोली में बैठ गए। "तो इसे किस्मत कहेंगे या सम्भावना?"

मास्साब ने और सोचने को प्रेरित किया। अब वे बोर्ड के सामने आ गए। सवाल सभी के सामने दोहराया, "अगर वह आदमी स्टेशन देर से पहुँचे और रेल मिल जाए। क्या इसे किस्मत कहेंगे?"

बच्चों की परवरिश तो इसी प्रकार की हुई है। किस्मत व भाग्य पर भरोसा किया जाता है। अगर रेल मिल जाए तो किस्मत और न मिले तो भी किस्मत। इससे आगे बच्चे भी नहीं सोच पा रहे थे।

दूसरी घटना के बारे में मास्साब ने बोर्ड पर लिख दिया। 'इलाहाबाद-इटारसी' रेल तो महीने में एकाध बार ही समय पर होती है। ज़्यादातर दिनों में उसका दो-चार घण्टे लेट होना आम बात है।

जो सज्जन लगभग पौन घण्टा लेट पहुँचे, उन्हें भी रेल नहीं मिली। इसके कारण पर बच्चे सोच रहे थे।

अब की बार तो बच्चे झुँझला उठे। यह कैसा सवाल है? वास्तव में, जीवन के सवाल आसान नहीं होते। इसलिए मास्साब भी इस चर्चा में शामिल हो गए और उसी तरह से इस घटना को समझ रहे थे जैसे बच्चे। इलाहाबाद-इटारसी रेल तो ज़्यादातर लेट ही चलती है। फिर भी उस आदमी को रेल नहीं मिलती! यह असम्भव घटना तो नहीं है। जो जानकारी पुस्तक में दी गई है उसके मुताबिक कभी-कभार रेल समय पर आ जाती है। वह आदमी उसी दिन देर से पहुँचा जब रेल समय पर आई। फिर वही बात उनके सामने कि 'मिल भी सकती है और नहीं भी मिल सकती है।' अगर रेल मिल जाए तो किस्मत, और न मिले तो भी किस्मत।

वैसे हमारे जीवन में ऐसा खूब होता है। अगर कुछ अच्छा हो जाए तो किस्मत की दुहाई दी जाती है। और अगर कुछ अनर्थ हो जाए तो किस्मत

को कोसते हैं। तो दोनों ही मामलों में किस्मत को आधार बनाया जाता है।

मास्साब ने पूछा, "क्या तुम्हारे साथ कभी ऐसा हुआ है?"

भागचन्द्र बोला, "मास्साब, उस ट्रेन में कभी बैठा ही नहीं।"

भागचन्द्र के जवाब से मास्साब ने समझा कि अभी सवाल का अर्थ समझ में नहीं आया। असल में, मास्साब का आशय यह समझाना था कि दैनिक जीवन में कोई ऐसी घटना घटी या नहीं।

नारंगी ने कुछ कहने का हौसला जुटाया और एक घटना कक्षा में सुनाई। उसने बताया कि एक बार वह अपनी माँ और बापू के साथ शहर गई थी। गाँव से बस पकड़कर वे जाने वाले थे। घर में बापू को काम करते हुए देर हो गई। माँ नाराज़ हो गईं। बापू को और नारंगी को माँ ने भला-बुरा कहा। उस दिन बस देर से आई और मिल गई। माँ बोलीं, "वो तो किस्मत अच्छी थी कि बस मिल गई।"

मास्साब को नारंगी का यह उदाहरण सटीक लगा। असल में, हम भाग्य को कोसते हैं जब हमारे साथ उलटा होता है। मास्साब बोले, "बात यह है कि हमारे गाँव में क्या बस रोज़ाना समय पर आती है? यह हमें देखना होगा। बस दस-बीस मिनट के अन्तर पर आती है।"

चन्दू बोला, "हाँ, जब बरसात होती है तो बस बहुत लेट होती है। कभी-कभी तो आती ही नहीं।"

"यह बात सही कही तुमने। लेकिन बाकी दिनों में बस थोड़ी-बहुत ही देरी से आती है।" मास्साब ने जोड़ा।

"किसी भी घटना के होने या न होने की सम्भावना अलग-अलग होती है। पर हम सभी इन घटनाओं को अलग-अलग तरह से देखते हैं और इनका विश्लेषण करते हैं। घटनाओं का विश्लेषण करने के लिए साधारणतः हम जिन शब्दों का उपयोग करते हैं, वे हैं - भाग्य, संयोग, इत्तेफाक या सम्भावना। समाज में प्रचलित इन मान्यताओं को ग्रहण कर इन्हें अपनी ज़िन्दगी में भी उतारते हैं।"

इन घटनाओं को बच्चों के समक्ष रखने का मकसद सम्भावना की समझ बनाना था। किसी घटना को अनेक कारण प्रभावित करते हैं। जैसे कि एक पौधे में कितने भटे लगेंगे, यह भाग्य का मामला नहीं। उस भटे के पौधे को कितने कारक प्रभावित करते हैं, उन्हें समझना है और इस आधार पर सम्भाविता की समझ बनाने की कोशिश भर करनी होती है।

चित या पट?

कुछ और उदाहरण लेकर मास्साब ने सवाल किया, "अगर एक सिक्का लें और उसे उछालें, तो चित आने की सम्भावना कितनी है?" हालाँकि बच्चों ने चियों और कौड़ियों से खेल खेले

हैं मगर चित आने की सम्भावना क्या है, यह बात उन्हें समझ में नहीं आई। मास्साब ने सिक्का निकाला और उसे उछालने से पहले पूछा, "चित आएगा या पट? देखिए, दो ही सम्भावनाएँ बनती हैं सिक्के को उछालने पर। या तो चित आएगा या पट।"

अब की बार मास्साब ने सिक्के को उछाला। पट आया। अगली बार उछाला। इस बार भी पट आया। अगली बार फिर से उछालने के पहले पूछा, "अब क्या आएगा? चित या पट? क्या अब भी पट आ सकता है?"

"क्या पता।" टोलियों से जवाब आया।

"फिर लोग कुछ घटनाओं की भविष्यवाणी कैसे करते होंगे? फिर से देखते हैं। एक सिक्के की दो ही साइड हैं - चित और पट। दो ही तो सम्भावनाएँ बन सकती हैं सिक्के की। सिक्के को उछालेंगे तो चित आने की सम्भावना 50 फीसदी और पट आने की भी 50 फीसदी।" अब मास्साब ने एक प्लास्टिक का घनाकार गुटका बच्चों को दिखाया जिसकी तीन सतहों पर सफेद-गोल निशान लगे थे और बाकी की तीन सतहें खाली थीं। मास्साब ने प्लास्टिक का गुटका दिखाते हुए पूछा, "इस गुटके में सफेद निशान को चित माना जाए और खाली सतह को पट। अब इसमें चित आने की सम्भावना क्या सिक्के के बराबर है या कम-ज़्यादा?"

बच्चे इस बात को समझ गए थे। चाहे गुटके की सतहें छह हों। इसमें से सफेद-गोल निशान वाली तीन सतहें चित और बाकी तीन सतहें पट वाली होंगी।

अगली कोशिश मास्साब की यह थी कि चित-पट के अधिक आँकड़ों को एकत्र किया जाए और फिर उनमें पैटर्न देखा जाए। वास्तव में, 'संयोग और सम्भाविता' नामक इस अध्याय को होशंगाबाद विज्ञान में शामिल करने का मकसद ही यह था कि हम अपने दैनिक जीवन की घटनाओं को भाग्य से जोड़कर देखते हैं जबकि इन घटनाओं के पीछे के कारणों को समझना बेहद ज़रूरी है। इस तरह की घटनाओं में पैटर्न को पकड़ने से हम किसी घटना की भविष्यवाणी कर सकने में भी सक्षम हो सकेंगे।

गतिविधि, रेखांकन और गणनाएँ

खेल की तैयारी के लिए स्कूल के मैदान में चूने से लाइनें खींच दी गईं। इस खेल के लिए 20 बच्चों की ज़रूरत थी। सो कक्षा छठी और सातवीं के 9 बच्चों को आमन्त्रित किया गया। उन्हें खेल के नियम बताए गए। सभी बच्चों को एक-एक सिक्का दिया गया। और शून्य लाइन पर सभी बच्चे सिक्का लेकर खड़े हो गए। शून्य से आगे की ओर व पीछे की ओर सात लाइनें खींची गई थीं। अगर सिक्का उछालने पर चित आए तो आगे की ओर बढ़ना है और पट आए तो पीछे की ओर। मास्साब ने तीन बार स्पष्ट निर्देश दिए। जैसे ही रेफरी बने मास्साब सीटी बजाएँगे, प्रत्येक बच्चा सिक्का उछालेगा। ज़मीन पर गिरे सिक्के को बच्चा देखेगा। अगर चित आता है तो एक लाइन आगे की ओर बढ़ना है। अगर पट आता है तो एक लाइन पीछे की ओर बढ़ना है। मास्साब ने बताया कि सात बार सिक्का उछालने पर अगर कोई आगे की सातवीं लाइन पर पहुँच जाता है तो वह जीत जाएगा। अगर वह पीछे की ओर सातवीं लाइन पर पहुँच जाता है तो भी जीता समझो। यह खेल तब तक खेलना है जब तक कोई आगे या पीछे की सबसे आखिरी सातवीं लाइन पर न पहुँच जाए।

खेल को खेला गया। सभी बच्चों के खेल का एक सामूहिक चार्ट बोर्ड पर बनाया गया और इस पर चर्चा हुई। "क्या इस खेल में कोई भविष्यवाणी कर सकता था कि वह सबसे पहले सातवीं लाइन पर पहुँचकर जीत हासिल कर लेगा?"

अपने-अपने चार्ट से समझ में आ रहा था कि सिक्का उछालने पर चित आएगा या पट, यह उनके हाथ में नहीं है।

अगले दिन कक्षा में मास्साब ने सभी बच्चों को निर्देश दिए कि 400 बार सिक्का उछालकर देखना है कि कितनी बार चित आता है और कितनी बार पट। प्रत्येक बच्चे को ग्राफ पेपर में चित आने पर खाने में सही का निशान लगाना है और पट आने पर गलत का निशान लगाना है।

इस गतिविधि में काफी वक्त लगा। मास्साब ने सभी को निर्देश दिए कि अब सभी अपने-अपने ग्राफ पेपर में यह गिनें कि 100 बार सिक्का

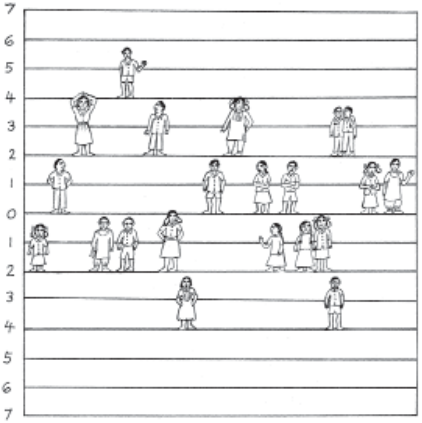

उछालने पर चित कितनी बार आया और पट कितनी बार। बच्चों ने गिनती कर ग्राफ पेपर के दूसरी ओर लिख लिया। फिर एक सामूहिक तालिका बनाई गई जिसमें सभी 44 बच्चों के चित-पट के आँकड़ों को दर्ज किया गया। अब बारी थी सम्भाविता की गणना करने की।

सम्भाविता को समझने के लिए *बाल वैज्ञानिक* का सहारा लिया गया। सम्भाविता आखिर है क्या? अगर चित की सम्भाविता ज्ञात करनी हो तो कुल चित संख्या को कुल बार सिक्के को उछाली गई संख्या से भाग देना होता है। यही बात पट की सम्भाविता ज्ञात करने के लिए भी लागू होती है।

मास्साब ने समझाया, "सम्भाविता कम-से-कम शून्य और अधिक-से-अधिक एक हो सकती है। अगर किसी घटना का होना निश्चित ही है तो उसकी सम्भाविता एक होगी। जैसे कि दिन के बाद रात आती ही है। इसलिए रात की सम्भाविता एक है। बच्चों को ऐसे अन्य उदाहरण खोजने के लिए कहा गया जिनमें सम्भाविता एक हो।

बच्चों से सवाल

मास्साब ने अध्याय से ही एक समस्या बच्चों के समक्ष प्रस्तुत की। एक किसान के पास धान का पुराना बीज रखा हुआ था। उसने धान की बुआई करने से पहले बीजों का अंकुरण करके परखना चाहा। उसने बीजों के अंकुरण के प्रयोग किए। प्रयोगों के विवरण से बच्चों को निष्कर्ष निकालने थे। पहले प्रयोग में किसान ने एक बीज का अंकुरण करवाकर देखना चाहा, पर बीज अंकुरित नहीं हुआ। दूसरे प्रयोग में 10 बीजों का अंकुरण करवाया और दसों बीज अंकुरित हो गए। तीसरे प्रयोग में 150 बीजों का अंकुरण करवाया और उनमें से 60 बीज यानी कि 40 प्रतिशत अंकुरित हो गए। चौथे प्रयोग में 1000 बीजों में से 650 बीज अंकुरित हुए और पाँचवें प्रयोग में आधा किलो बीजों में से लगभग दो-तिहाई बीज अंकुरित हुए।

प्रश्न यह पूछा गया कि किसान अपने बीज के अंकुरण का प्रतिशत पता करने के लिए किस प्रयोग पर ज़्यादा भरोसा करे। प्रयोगों के इस विवरण पर बच्चों से तर्कसहित उत्तर की अपेक्षा की गई। प्रश्न यह भी किया गया कि दूसरे प्रयोग में जहाँ बीजों का अंकुरण शत-प्रतिशत हुआ, वहीं चौथे और पाँचवें प्रयोग में दूसरे की तुलना में इतना अन्तर क्यों आया?

अगले दिन मास्साब ने वह सवाल बच्चों को करने को दिया जिस पर विधानसभा में हंगामा हुआ था। सट्टा सम्भाविता पर आधारित एक खेल है जिसमें खेलने वाले हारते ही हैं।

विज्ञान पर राजनीति

दरअसल, होशंगाबाद विज्ञान के मूल में था कि कैसे समाज के मसले विज्ञान शिक्षा के दायरे में आएँ। जीवन के मसले कक्षा-शिक्षण का हिस्सा बनें और उन पर छात्र विमर्श करें, यह एक सामान्य-सी बात थी। अक्सर ऐसा भी होता कि जीवन के मसलों पर प्रशासनिक अधिकारी और यहाँ तक कि राजनैतिक प्रतिनिधियों के बीच रस्साकस्सी शुरू हो जाती। संयोग और सम्भाविता को लेकर मध्यप्रदेश विधानसभा में एक स्थानीय विधायक ने सवाल पूछकर बवाल खड़ा कर दिया था। पहले वह सवाल जो बोर्ड परीक्षा में पूछा गया था –

सट्टा एक खेल है जो पैसों से खेला जाता है। इस खेल में 0, 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 - कुल दस अंक होते हैं जिनमें से खिलाड़ी किसी एक को चुनकर उस पर पैसा लगा सकता है। वह अंक खुलने पर उसे जीता हुआ माना जाता है। बताओ, सट्टा खेलने वाले की जीतने की सम्भाविता कितनी होगी?

जब सट्टा दो अंकों से खेला जाता है तब उसमें 00, 01, 02, ...98, 99 तक कुल सौ अंक होते हैं। इस खेल में खिलाड़ी किसी एक जोड़ी पर पैसा लगा सकता है एवं जोड़ी आने पर उसे जीता माना जाता है। बताओ, सट्टे की जोड़ी खेलने वाले की जीतने की सम्भाविता कितनी होगी?

उपरोक्त अवलोकनों के आधार पर बताओ कि सट्टा खेलना किसी व्यक्ति के लिए लाभप्रद है या हानिप्रद?

बात 1984-85 की है। होशंगाबाद विज्ञान की बोर्ड परीक्षा में सट्टे पर एक प्रश्न आया था। प्रश्न पूछने का आशय यही समझाना था कि दरअसल सट्टे में कोई हमेशा नहीं जीतता है। सट्टे को संयोग और सम्भाविता की नज़र से छात्र देख सकें और इसकी मूल भावना को

समझें इसलिए इसे आठवीं बोर्ड की परीक्षा में पूछा गया था।

बोर्ड के प्रश्न-पत्र में सट्टे से सम्बन्धित प्रश्न देखकर होशंगाबाद ज़िले के एक विधायक ने विधानसभा में प्रश्न पूछ लिया। परीक्षा सम्पन्न होने के दूसरे दिन अखबारों में सुर्खी बनी कि होशंगाबाद विज्ञान बच्चों को सट्टा खेलना सिखाता है।

दरअसल, यह प्रश्न तो संयोग और सम्भाविता से सम्बन्धित है। इसमें सट्टा सिखाने जैसी कोई बात ही नहीं है। बल्कि इस प्रश्न के ज़रिए सट्टे की बुराई को उभारा गया है। जिन शिक्षक ने यह प्रश्न बनाया था उनके अनुसार, "मेरे घर के सामने एक सटोरिया रहता है। वह सट्टा लिखता है। मैं प्रतिदिन सट्टा खेलने वालों को देखता था जो दैनिक मज़दूरी करते थे। उनके दिमाग में बस एक बात रहती थी कि सट्टे में एक रुपए के अस्सी रुपए मिलते हैं। परन्तु वे यह नहीं जानते कि 100 व्यक्तियों में किसी एक के जीतने की ही सम्भावना रहती है। यह खेल हज़ारों-लाखों रुपयों में चलता है। मैंने सट्टा लिखने वालों को सम्पन्न होते देखा है किन्तु खेलने वाला दरिद्र, फटेहाल होकर कई बार आत्महत्या, चोरी, डकैती के लिए मजबूर हो जाता है। मेरे प्रश्न पूछने का आशय था कि बच्चे एवं उनके माता-पिता इस प्रश्न को हल करके सबक लें कि सट्टा खेलना किसी व्यक्ति के लिए लाभप्रद है या हानिप्रद?"*

संयोग और सम्भाविता, दैनिक जीवन की घटनाओं से गहरे से जुड़ा हुआ है जो हमें घटनाओं को समझने में मदद करता है। मसलन, सट्टा खेलने वाले लोग इसे अपने भाग्य से जोड़कर देखते हैं। दरअसल, सट्टे की समझ सम्भाविता के सिद्धान्त से समझी जा सकती है कि किसी एक अंक के आने की सम्भाविता कितनी है।

---

* *यह सवाल होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े शिक्षक उमेश चौहान ने बनाया था। उपरोक्त तथ्य उमेश चौहान से बातचीत पर आधारित हैं।*

कालू राम शर्मा (1961-2021): अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, खरगोन में कार्यरत थे। स्कूली शिक्षा पर निरन्तर लेखन किया। फोटोग्राफी में दिलचस्पी। *एकलव्य* के शुरुआती दौर में धार एवं उज्जैन के केन्द्रों को स्थापित करने एवं मालवा में विज्ञान शिक्षण को फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

चित्र: कैरन हैडॉक: पिछले तीस सालों से भारत में शिक्षाविद, चित्रकार और शिक्षक के रूप में काम कर रही हैं। बहुत-सी चित्रकथाओं, पाठ्यपुस्तकों और अन्य पठन सामग्रियों का सृजन किया है और उनमें चित्र बनाए हैं।

सभी चित्र *बाल वैज्ञानिक* कक्षा-8 से लिए गए हैं।

कुदरत के सच और समाज

कुछ बिखरे हुए सवाल

लाल्टू

यह व्याख्यान 5 नवम्बर, 2022 को *एकलव्य* के चालीस साल और होविशिका के पचास साल होने के उपलक्ष्य में राज्य संग्रहालय, भोपाल में आयोजित 'होविशिका व्याख्यान शृंखला' में दिया गया था।

'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' व्याख्यानमाला में भागीदारी करते हुए मुझे खुशी है, पर साथ ढेर सारा संकोच भी है। इस शहर में होविशिका के साथ वर्षों जुड़े रहे दिग्गज मौजूद हैं, जिन्होंने लगातार इसकी दशा और दिशा तय की है। इनमें से ज़्यादातर मुझसे वरिष्ठ हैं। जो मुझसे उम्र में कम हैं, उनके पास तजुर्बों का खज़ाना है और इन सबके सामने मैं आज भी खुद को 28 साल का युवक महसूस करता हूँ, जो चंडीगढ़ से वाया दिल्ली और रतलाम, उज्जैन पहुँचा है और होविशिका प्रशिक्षण शिविर में शामिल होने आया है।

मैंने अपने उस्ताद के साथ और बाद में शागिर्दों के साथ जो रिसर्च का काम किया है, वह पारम्परिक ढंग के प्रयोगों का नहीं, बल्कि कागज़, कलम और कम्प्यूटरों पर किया सैद्धान्तिक काम है। अक्सर अपने काम का औचित्य समझने/समझाने के लिए औरों

द्वारा किए प्रयोग, जिन्हें 'वेट लैब' कहते हैं, ऐसे काम के साथ संगति की कोशिश की है। कभी *वेट लैब* में हुए काम को सैद्धान्तिक जामा पहनाया है और कभी प्रयोग कर रहे साथी वैज्ञानिक की गलत समझ सुधारी है। पर होविशिका पूरी तरह से कर के देखना यानी प्रयोगों पर आधारित था।

प्रेरणा के स्रोत

दिसम्बर 1978 में कानपुर से मुम्बई के रेल के सफर में अचानक बीच में कहीं गाड़ी में चढ़ गए अरविंद गुप्ता से 'किशोर भारती' के उनके तजुर्बे सुने थे और उन बातों का असर मुझ पर था। होविशिका के साथ जुड़ने की प्रेरणा प्रो. अनिल सद्गोपाल के जनविज्ञान पर लिखे एक लेख से मिली थी, जो मैंने शोध-

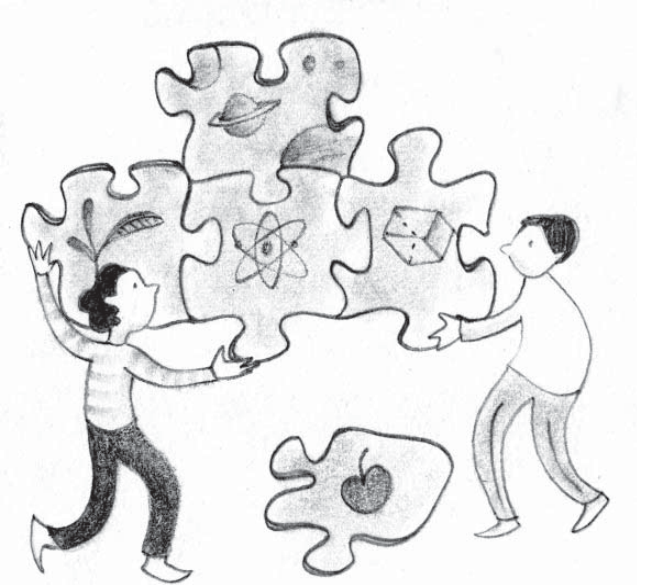

छात्र रहने के दौरान पढ़ा था। इसमें विज्ञान के एक पहलू की बात थी जो हमें conceptual jumps यानी समझ के स्तर पर छलाँग लगाने की काबिलियत देता है, कि हम किसी विषय में एक पहेली हल करने की महारत का इस्तेमाल किसी और विषय में सवाल हल करने के लिए कर सकें। यानी कुदरत के विविध पहलुओं पर जानकारी इकट्ठा करना विज्ञान का मकसद है, पर साथ ही यह हमें ताकत देता है कि हम समाज के दीगर पहलुओं पर भी मानीखेज़ जानकारी पा सकें।

विज्ञान की आलोचना

बात शुरू करने के लिए मैं एक कविता की कुछ पंक्तियाँ पढ़ूँगा। कोई 25 साल पहले कैलिफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के जीओ-फिज़िक्स के एक प्रो. ऐंडरसन ने यह कविता लिखी थी। कविता कायनात की शुरुआत से आज तक के लम्बे सफर पर क्या समझ बनी है, उस पर है। यानी पहले कुछ भी नहीं था, देश-काल की कोई धारणा नहीं थी, फिर बड़ा धमाका हुआ, खरबों सालों तक बने कण, अणु-परमाणु, फिर तारे और ग्रह, धरती पर जीवन, जीव-जन्तु आदि आदि। आखिरी चार लाइनें हैं -

> Look at Earth crust oceans air Life Cool!
> a trivial speck, an afterthought
> But all we got.
> So here we are, simple and meek,
> Now how do we get through the rest of the week?

देखो यह धरती इसकी परतें,
समन्दर, हवा, जीवन, है न बढ़िया!
महज़ धूल के कण-सा,
जैसे भूल से बन गया, यही है हमारे पास
हम, नादां और लाचार
अब कैसे गुज़ारें आगे के दिन चार?

सब कुछ जान लेने के बाद भी सवाल है कि हम अगले कुछ दिन कैसे गुज़ारें। जाने-अनजाने ऐंडरसन हमें विज्ञान की आलोचना की ओर ले जाते हैं।

होविशिका की शुरुआत के दिनों में न केवल विज्ञान की आलोचना पर समकालीन काम से परिचित हो पाना मुश्किल था, दरअसल वैज्ञानिकों में ऐसी समझ भी कम ही थी कि विज्ञान की भी साहित्य या कला की तरह आलोचना हो सकती है। पश्चिमी मुल्कों में लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म, यानी आँखन-देखी और ज़हन में घोटी, जो आज भी अधिकतर विज्ञान-कर्म की बुनियाद है, की चीरफाड़ हो रही थी। हमारे यहाँ संजीदा समझदार लोग, यह सब पढ़ रहे थे। एलीट संस्थानों में विज्ञान पढ़ते हुए इस आलोचना से अछूता रहना नामुमकिन था और एक अधकचरी समझ इस बारे में थी। कह सकते हैं कि विज्ञान में आस्था का संकट था। कभी मैंने एक लेख लिखा था - the universality of fundamental sciences, a third world perspective on the myth (बुनियादी साइंस की आलमी पहचान, तीसरी दुनिया से प्रतिक्रिया)। लेख छपा नहीं, उसमें फिलिस्तीनियों पर चल रहे इज़रायली हमलों का ज़िक्र था, और जिस पत्रिका के लिए लिखा था, वहाँ यह छपना नामुमकिन था। वक्त के साथ विज्ञान में मेरी आस्था बढ़ती रही, और आज पूरी तरह से विज्ञान में ही आस्था रखता हूँ। बराबरी, इन्साफ, प्रेम, अध्यात्म, तकरीबन हर बात - क्या विज्ञान से इतर है और क्या विज्ञान में शामिल है, यह समझ विज्ञान से ही मिलती है।

अक्सर हम विज्ञान और टेक्नो-लॉजी को गड्ड-मड्ड कर लेते हैं और टेक्नोलॉजी की आलोचना को ही विज्ञान की आलोचना कह लेते हैं। टेक्नोलॉजी की आलोचना आसान है। हमारे कॉलेज के दिनों में कैट स्टीवेन्स का एक लोकप्रिय गीत था-

Well, I think it's fine / Building jumbo planes
Or taking a ride on a cosmic train
Switch on summer from a slot machine
Yes, get what you want to if you want / 'Cause you can get anything
I know we've come a long way / We're changing day to day
But tell me, where do the children play?

अच्छी बात है / जम्बो जेट बना ले
अलौकिक रफ्तार से सफर कर ले
सिक्का डालकर मशीन की ठण्डी

हवा खा ले
हाँ, जो जी चाहे ले ले / सब कुछ है तेरे हाथ
सही है कि बहुत आगे बढ़ आए हैं / हर दिन हम बदलते जाए हैं
पर यह बता, कि बच्चे खेलें कहाँ?

सादी सरल आलोचना। बच्चे खेलें कहाँ? - यह सवाल आज और भी ज़्यादा संजीदा बन चुका है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी का रिश्ता बड़ा जटिल है - एक सरलीकृत समझ है कि वैज्ञानिक खोज का व्यवहारिक इस्तेमाल ही टेक्नोलॉजी है। दरअसल, आज बहुत सारा विज्ञान टेक्नोलॉजी की बुनियाद पर खड़ा है। कंप्यूटरों के बिना आज विज्ञान-कर्म सोचा भी नहीं जा सकता है। लोगों के ज़हन में विज्ञान की अहमियत टेक्नोलॉजी के चमत्कारों से ही बनती है, लिहाज़ा, विज्ञान पर बात करते हुए टेक्नोलॉजी से बच पाना मुमकिन नहीं है।

संकट और समीक्षा

धरती को जैसा हम आज जानते हैं - जीव-जन्तु, आबोहवा, दो-तीन सदियों तक ऐसा ही रहेगा भी या नहीं, कहना मुश्किल है। दो सदियों बाद हम किसी और मायने में गालिब पढ़ रहे होंगे - 'सब्ज़ा ओ गुल कहाँ से आए हैं/ अब्र क्या चीज़ है हवा क्या है।' ये संकट विज्ञान और टेक्नोलॉजी के इस्तेमाल से ही आए हैं। ऐसे में, विज्ञान के उन मानदण्डों की ओर फिर से देखने की ज़रूरत है जिन पर होविशिका की बुनियाद खड़ी थी। चेतना के स्तर पर तर्कशीलता को बढ़ाना, कुदरत के प्रति सचेत और उत्सुक होना, मान्य सिद्धान्तों पर सवाल खड़े करना - ये आम खासियत उनमें से कुछ हैं। 1988-89 में मैं यूजीसी टीचर फैलोशिप लेकर *एकलव्य* के हरदा केन्द्र के साथ जुड़ा, तब तक मध्य प्रदेश के कुछ

ज़िलों के मिडिल स्कूलों में होविशिका के समान्तर सामाजिक विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम भी शुरू हो गया था। इस दौरान देश में जन-विज्ञान आन्दोलन की एक नई लहर खड़ी हो रही थी। यह सब देश-काल और व्यवस्था की सीमाओं के अन्दर रहकर होना था। आलोचना की नई खिड़कियाँ खुल रही थीं। अनिल भाई से एक बात मैंने जानी थी कि पोषण पर दो अलग नज़रियों से जानकारी फैलाई जा सकती है। एक महज़ विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का नज़रिया है, जिसके मुताबिक ठोस जानकारी लोगों तक पहुँचाई जाए कि वे कैसा भोजन लें, उसमें कितना कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, खनिज, विटामिन आदि हो; यह पाठ्यपुस्तक किस्म की जानकारी है। दूसरा यह कि न्यूनतम पोषण कैसा हो। पहला नज़रिया महज़ जानकारी है, जबकि दूसरा हमें मजबूर करता है कि हम पूछें कि हर इन्सान की न्यूनतम माली ज़रूरत कितनी है कि वह उचित पोषण पा सके। यानी हम समाज में गैरबराबरी और बड़े तबके की बदहाली पर सोचते हैं। जन-विज्ञान हमेशा मान्यताओं पर सवाल खड़ा करता रहा है, पंजाब की तर्कशील सोसायटी हो या महाराष्ट्र का लोक विज्ञान संगठन, या केरल का शास्त्र साहित्य परिषद हो या तमाम साइंस क्लब जो देश के अलग-अलग हिस्सों में चलते रहे हैं। करीब पचीस साल पहले मैंने जनसत्ता के चंडीगढ़ संस्करण में लिखे एक लेख में यह प्रस्तावना रखी थी कि इन आंदोलनों पर समाज-शास्त्रीय अध्ययन किया जाना लाज़मी है। यानी हम लोग जो कम या ज़्यादा, अलग-अलग अवधियों तक इनसे जुड़े रहे हैं, हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं, और हम कैसा नज़रिया अपनाते हैं।

आज़ादखयाली में कितना आज़ाद?

पिछली आधी सदी में समाज-विज्ञान के कई चिन्तकों ने बार-बार कहा है, हमारा सामाजिक अतीत हर तरह के पाठ में हमारे साथ रहता है। वह हमें लचीला होने से रोकता है। आज़ादखयाली में भी हम पूरी तरह आज़ाद नहीं हो पाते। हम वही देखते हैं जो हमारी आस्था के अनुकूल होता है, वह नहीं देख पाते जो हमारे जज़्बात से टक्कर ले पाए। देरीदा का प्रसिद्ध कथन है 'there is nothing outside the text' – अगर मैं सामन्ती सरोकारों के साथ ही पला-बढ़ा हूँ, तो मैं जो कुछ भी देखता-कहता-लिखता हूँ, उस पर मेरा अतीत हावी रहेगा।

मैंने साधारण हिन्दी माध्यम स्कूल से पढ़ाई की। स्कूल में विज्ञान नीरस ढंग

से पढ़ाया जाता था। मेरी रुचि साहित्य और गणित में थी। मुहल्ले के जानकार बड़े लोगों की सिफारिश और कुछ वजीफे की शर्त थी कि आगे की पढ़ाई अपने आप तय हुई। मैं केमिस्ट्री में लगातार गणित की ओर झुकता रहा और बाद में मौका मिलते ही सैद्धान्तिक शोध में आ गया। ऊँची तालीम मुझे हिन्दुस्तान और दुनिया के बेहतरीन संस्थानों से मिली, पर होविशिका से जुड़कर मैंने बहुत कुछ नया सीखा।

होविशिका के आखिरी दौर में दुनिया कई मायने में लगातार छोटी होती जा रही थी। नब्बे के दशक में विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों में इंटरनेट आ चुका था। जब तक हैदराबाद में IIIT यानी देश की पहली सूचना टेक्नोलॉजी यूनिवर्सिटी बनी, हमारे और पश्चिम के बौद्धिकों में ज़हनी छलाँगों की दूरियाँ कम हो चली थीं और हम एक अजीब हाइपर-रियलिटि का हिस्सा बन चुके थे, जिसमें अचानक सब कुछ मीडिया-तंत्र के हाथों तय होने लगा था। एक नारा उछला कि इतिहास का अन्त हो चुका है यानी हाल की सदियों में जो लोकतंत्र आधारित समाज और बराबरी के सपने उभरे थे, उनकी जगह बड़े पैमाने की गैरबराबरी की बुनियाद पर खड़े सरमायादारी के सियासी ढाँचे ही अब हमारी नियति है। अगले दो दशकों में झूठ को सच बनाकर पेश करने वाली फैक्ट्रियाँ हमारे चारों ओर पनप गई हैं। होविशिका का रुकना या खत्म होना, एक बड़ी त्रासदी का हिस्सा था जो आलमी पैमाने पर हो रही थी। फिर भी सोचना लाज़मी है कि हम इस पूरे दौर में कहाँ थे और हमने इस दौरान क्या कुछ किया।

विज्ञान से हम क्या समझते हैं?

विज्ञान से हमारा मतलब हाल की सदियों में पश्चिमी मुल्कों में तेज़ी-से आए बदलावों से होता है, जिनमें खास किस्म का दार्शनिक चिन्तन भी शामिल है। यह सोच अचानक नहीं टपकी; चीन, दक्षिण एशिया, ईरान, ईराक आदि में सदियों से जो वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ, उसके साथ आधुनिक विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है, फिर भी विज्ञान को जिन खासियतों से आज हम जानते हैं, और इसमें कोई आखिरी फैसला अभी तक बन नहीं पाया है - ये बातें हाल की सदियों में पश्चिम में ही गहराई से सोची गईं।

देश-काल के पैमानों में विज्ञान के विषयों की व्यापकता हमें हैरान और अभिभूत करती है। परमाणु की नाभि में मौजूद सूक्ष्मतम कणों से लेकर कायनात के दोनों छोरों तक की जानकारी इकट्ठी करना प्रकृति विज्ञान (natural sciences) है। कायनात की शुरुआत के बड़े धमाके से लेकर अभी तक को साल भर के कैलेंडर में समेटा जाए तो इन्सानी सभ्यता के

लिए आखिरी पन्द्रह मिनट ही बनते हैं। यानी अगर पहली जनवरी की शुरुआत (आधी रात) में कायनात बनती है तो मानव सभ्यता 31 दिसम्बर को रात ग्यारह बजकर पैंतालीस मिनट पर सामने आती है। आम तजुर्बे में बहुत तेज़ी-से हो रही घटनाएँ भी एक सेकण्ड में हज़ार बार से ज़्यादा नहीं होतीं। विज्ञान में पल भर में खरबों-खरबों बार हो रही घटनाओं पर भी प्रयोग होते हैं। नहीं के बराबर ऊर्जा से लेकर सारी कायनात में व्याप्त ऊर्जा से जुड़ी घटनाओं को जाना-परखा जाता है। विज्ञान हमें यह बताता है कि इस विशाल कायनात में हमारा अस्तित्व नहीं के बराबर है। साथ ही, विज्ञान हमें यह साहस देता है कि हम हर मान्यता पर सवाल खड़ा कर सकें। इस वजह से सही-गलत धारणा बनी है कि यही इल्म का सबसे ऊँचा दर्जा है।

कुदरत के रंग अनोखे हैं। इसलिए इसे जानने की चाह हर इन्सान में है। हर खित्ते में, हर पैमाने पर अनोखे रूप दिखते हैं। गुरुत्वाकर्षण और कभी-कभी विद्युत-चुम्बकीय आकर्षण से बने पिण्ड, जैसे धूमकेतु, ग्रह-उपग्रह, तारे, तारामण्डल, नीहारिका आदि हैं, इस खगोली विशालता की तुलना में बहुत छोटे पैमाने पर धरती की सतह पर कई किस्म की रचनाएँ हैं। वैज्ञानिक इनको अलग-अलग वर्गों में बाँटकर इनका अध्ययन करते हैं। वर्गीकरण सिखाने की अहमियत

होविशिका पाठ्यक्रम में थी। जीव जगत में भी वर्गीकरण बुनियादी बात है। जीव-जगत से सूक्ष्मतर किसी पौधे या प्राणी की कोशिकाओं में विविधताएँ देख सकते हैं। उससे भी आगे अणु-परमाणु-नाभि में विविध प्रकार की रचनाएँ हैं। कायनात की शुरुआत से आज तक, कणों से लेकर ग्रह-तारे तक के सफर को भी अलग युगों में बाँटकर अध्ययन किया जाता है। जैविक विकास और धरती की परतों में वक्त के साथ बदलाव को अलग-अलग युगों में बाँटकर देखा जाता है। पिछले तकरीबन दस हज़ार सालों से हम होलोसीन युग में हैं। इन्सानी घुसपैठ से आ रहे बड़े बदलावों की वजह से कहा जाता है कि पिछले सत्तर सालों से हम ऐंथ्रोपोसीन युग में आ गए हैं (ऐंथ्रोपोस यानी इन्सान)।

मानविकी विज्ञान से कमतर नहीं

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक यूरोप में तेज़ी-से हुई औद्योगिक तरक्की का सेहरा विज्ञान के माथे पर था। कई विचारकों ने कहना शुरू किया कि समाज और उससे जुड़े राजनैतिक एवं प्रशासनिक ढाँचे विज्ञान पर आधारित होने चाहिए। कुदरत के सच इन्सान के वजूद से आज़ाद हैं, इसलिए मान लिया गया कि वैज्ञानिक पूर्वाग्रहों से आज़ाद होकर काम करते हैं।

जब कुदरत से हटकर समाज को देखते हैं तो ज़ाहिर होता है कि सच

क्या है, यह जानना आसान नहीं है। जो दिखता है, वह इस पर निर्भर करता है कि देखने वाला कौन है, किस समाज, वर्ग, जाति, धर्म, जेंडर का है। ज़बान, एहसास, तर्कशीलता और जज़्बात से हमें सच की तलाश में मदद मिलती है, पर हर वह बात जिसे हम सच मानते हैं, सचमुच सत्य हो, कोई ज़रूरी नहीं। ज्ञान पाने के दीगर तरीकों के बनिस्बत विज्ञान के ज़रिए हम सत्य के और ज़्यादा करीब जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं। ज्ञान की निश्चितता पर सवाल उठते हैं तो ज़ाहिर है कि विज्ञान पर भी सवाल उठेंगे। विज्ञान से हमारा मतलब ऐसे बौद्धिक औज़ार, तरीके और जानकारियों से है, जिनका इस्तेमाल वैज्ञानिक करते हैं। समाज-विज्ञान में इन्सानी फितरत को समझने के लिए, एक मि.मी. से लेकर धरती से चाँद या सूरज की

दूरी तक काफी हैं, और वक्त का पैमाना भी एक पल से लेकर कुछ करोड़ सालों से ज़्यादा नहीं चाहिए। पर इन्सानी फितरत की जटिलताएँ इतनी हैं कि ज्ञान की विधाओं में समाज विज्ञान या मानविकी किसी मायने में कुदरत के विज्ञान से कम नहीं हैं। फिर भी हम बचपन से सुनते आए हैं कि यह विज्ञान का युग है।

अदब और कला में अक्सर विज्ञान और टेक्नोलॉजी को लेकर गहरी चिन्ताएँ रखी गई हैं। 1818 में मैरी शेली का *फ्रांकेन्स्टाइन*, 1886 में रॉबर्ट लुइस स्टीवेन्सन का *डॉ. जेकिल एंड मिस्टर हाइड*, 1896 में एच.जी. वेल्स का *द आइलैंड ऑफ डॉ. मोरो*, बीसवीं सदी में आल्डस हक्सले का *द ब्रेव न्यू वर्ल्ड*, पीटर जॉर्ज का *रेड अलर्ट*, जिस पर *डॉ. स्ट्रेंजलव* फिल्म बनी थी - उपन्यासों और फिल्मों में वैज्ञानिकों की छवि अक्सर तानाशाही प्रवृत्ति की दिखाई गई है, जो दुनिया को तबाही की राह पर ले जा रहे हैं। करीब ग्यारह साल पहले यूरोप में आइसलैंड में एक ज्वालामुखी के विस्फोट की वजह से धुँआ फैलने से कई देशों में हफ्ते भर हवाई उड़ानें बन्द कर दी गई थीं। स्लावोए ज़िज़ेक ने इसे एक चेतावनी की तरह समझाया कि याद रखें कि इन्सान धरती पर अनगिनत प्राणियों में से महज़ एक है। इन सभी

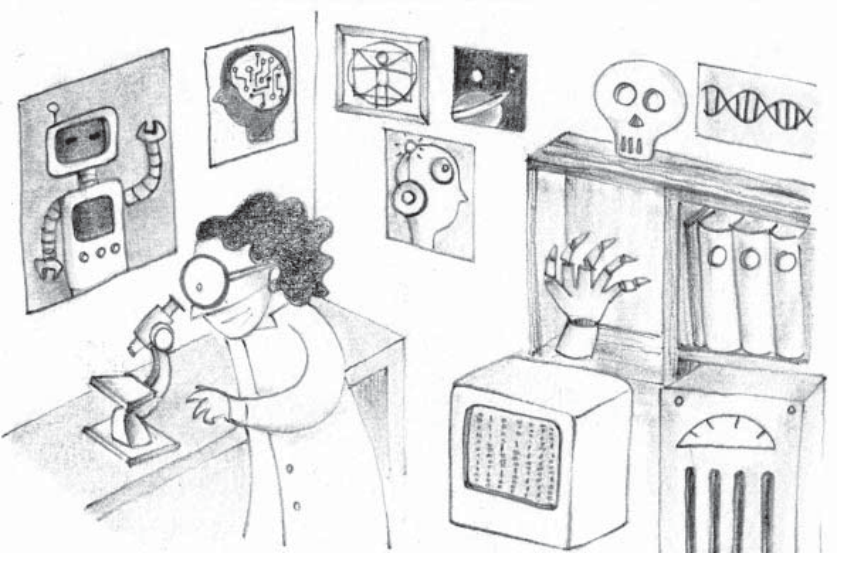

आलोचनाओं से अलग कुछ बुनियादी चिन्ताएँ हैं, जिन पर मैं बात रखना चाहता हूँ। पहले हम संक्षेप में यह समझें कि दरअसल वैज्ञानिक पद्धति क्या होती है।

वैज्ञानिक पद्धति

वैज्ञानिक पद्धति में खास तरह की तर्क संरचनाओं का इस्तेमाल होता है। होविशिका में कर के देखने पर पूरा ज़ोर डाला गया था, जो मूलत: इंडक्शन या अनुगमन पर आधारित था। कुछ व्यावहारिक और कुछ दार्शनिक खासियतें हैं, जो पद्धति के रूप में ज्ञान पाने के अन्य तरीकों से विज्ञान को अलग करती हैं।

- व्यावहारिक स्तर पर विज्ञान में उन्हीं सवालों पर खोजबीन होती है, जो कुदरत में हैं।
- किसी भी घटना पर अवलोकनों को दर्ज़ कर उस पर अनुमान लगाए जाते हैं।
- अनुमान ऐसे होने चाहिए जिनकी जाँच की जा सके। जैसे एक पंछी की तान उसे अपने माँ-बाप से मिली है या वह अपने आप सीखता है, इन दो अनुमानों को जाँचकर सही या गलत साबित किया जा सकता है। पंछी के अण्डे को किसी और प्रजाति के पंछी के घोंसले में रखा जा सकता है, और जाना जा सकता है कि जन्म लेने के बाद धुन परिवेश से नहीं, माँ-बाप से मिली है। जिन अनुमानों पर जाँच नहीं हो सकती, वे विज्ञान के दायरे के बाहर हैं।
- जाँच के द्वारा मिले आँकड़ों के मुताबिक किसी अनुमान को स्वीकार या खारिज किया जाता है।
- लगातार प्रयोगों में मिले नतीजों से हम कुदरती कायदे जान सकते हैं।

बार-बार दुहराई जाँच, इनके आधार पर अनुमान, भिन्न अनुमानों पर आधारित प्रयोग, प्रयोगों में पाई जानकारी के आधार पर बनाए गए नियमों और आखिर में सिद्धान्त तक पहुँचने की एक शृंखला है। मसलन, कोई भी चीज़ अणुओं-परमाणुओं की बनी है, और ये कण एक-दूसरे से अलग विचरते हैं, इस धारणा को वैज्ञानिक सिद्धान्त बनने में तकरीबन दो हज़ार साल लगे। परमाणु में नाभि और नाभि के बाहर क्या कुछ है, इसकी साफ समझ सौ साल पहले ही बनी।

सिर्फ गुणात्मक नहीं, परिमाणात्मक आँकड़े चाहिए। मानविकी में हमेशा परिमाण या मात्रा की बात नहीं करते। कविता या कला की खूबसूरती का कोई पैमाना नहीं हो सकता। विज्ञान में जिन राशियों को मापा जाता है, उन पर नियंत्रण होना भी लाज़िम है। अगर तापमान में बदलाव किया जाए तो इसका असर देखने के लिए पक्का करना होगा कि किसी और राशि में

बदलाव न हो। इसी तरह कोई दवा कारगर है या नहीं, इसके लिए एक ही मर्ज़ के अलग-अलग रोगियों को असली दवा और वैसा ही दिखता कुछ और देकर, देखा जाता है कि दवा के असर में फर्क है या नहीं। अगर फर्क नहीं है, तो दवा कारगर नहीं है।

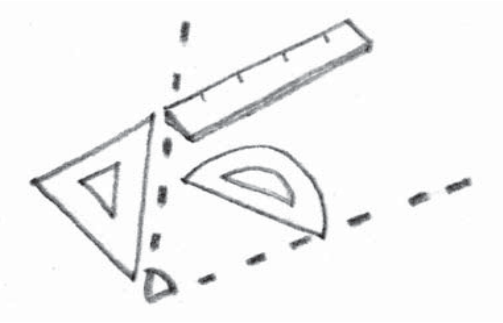

दार्शनिक पहलू

अब हम कुछ दार्शनिक पहलुओं पर बात करेंगे। पहले दो बातें इतिहास और समाज-शास्त्र पर।

यूरोप में प्रबोधन और आधुनिक विज्ञान का उभार तकरीबन एक ही समय हुआ। आधुनिकता और विज्ञान को अक्सर एक-दूसरे का पर्याय मान लिया गया। नवजागरण ने सत्य के सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर विश्वास पैदा किया था। इसके उलट उत्तरआधुनिक चिन्तक स्थानीय परम्पराओं को स्वीकार करते हैं, जो चाहे पूरी तरह तर्क आधारित हों या न हों।

प्रबोधन ने कायनात में इन्सान को स्वच्छन्द अस्तित्व दिया। वह कुदरत का होकर भी कुदरत से अलग हो पाया। औद्योगिक विकास की रफ्तार के साथ इन्सान ने कुदरत को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करने के गुर बढ़ाए। हम, कुदरत, और कुदरत के साथ हमारे रिश्ते को लेकर सार्वभौमिक नियमों की तलाश और प्रस्तावना हुई। उन्नीसवीं सदी तक यह बात कुदरत से आगे इन्सान के बनाए समाज तक आ गई। बीसवीं सदी में मेर्टन ने विज्ञान के समाजशास्त्र की प्रस्तावना रखी, जिसमें विज्ञान को सामुदायिक, सार्वभौमिक, उदासीन, संगठित जिज्ञासा का शास्त्र कहा गया। फिर जल्दी ही विज्ञान की निरपेक्षता और समाज में वैज्ञानिकों के रुतबे को चुनौती भी मिली। सार्वभौमिक आख्यानों की धारणा पर सवाल उठे। यूरो-केन्द्रिक सोच और यूरोपी मुल्कों द्वारा उपनिवेशों की बेइन्तहा लूट पर सवाल उठे। सदी के बीचोबीच तक नाभिकीय बम-विस्फोट या उद्योगों के कारण पर्यावरण का विनाश बढ़ता चला था, ओज़ोन परत में छेद और मौसम का गर्म होते रहना ज़ाहिर हो रहा था। विज्ञान की दुनिया में सब कुछ ठीक नहीं था, पर ज़्यादातर आलोचना का सम्बन्ध सामाजिक-राजनैतिक ढाँचों से अधिक और

खालिस विज्ञान से कम था। मसलन, विज्ञान के पेशे में आजतक स्त्रियों की मौजूदगी बहुत कम है। पर क्या ये समस्याएँ विज्ञान की हैं, जो ज्ञान पाने का एक साधन है या उस पेशे की हैं, जो वैज्ञानिक कहलाता है, या बृहत्तर समाज की हैं, यह सवाल है।

बीसवीं सदी की शुरुआत में दार्शनिकों में पुरज़ोर बहस जारी थी कि विज्ञान क्या है। लॉजिकल पॉज़िटिविज़म या तर्क आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह धारणा बढ़ रही थी। सूक्ष्म और स्थूल, हर स्तर पर हमेशा प्रत्यक्ष तजुर्बा नामुमकिन है, इसलिए सीमित तजुर्बों को गणित और तर्क में बाँधकर सैद्धान्तिक समझ बनाना ज़रूरी है। सौ साल पहले बात यहीं तक थी, पर पिछली सदी में विज्ञान के दर्शन में लगातार बहसें चलती रहीं। इस पर विषद चर्चा यहाँ मुमकिन नहीं है, दो-एक बातें रख रहा हूँ। छठे दशक तक यह मान लिया गया था कि विज्ञान ज्ञान पाने का एक अनोखा तरीका है, जो देश-काल या सामाजिक-ऐतिहासिक हालात पर निर्भर नहीं करता है। थॉमस कुन ने 1962 में 'स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रीवोल्यूशन्स (विज्ञान के इन्कलाबों की संरचना)' नामक किताब लिखी, जिससे विज्ञान के सामाजिक पहलुओं और दर्शन का अध्ययन करने वालों में तहलका मच गया। कुन ने वैज्ञानिक खोजों के इतिहास को गहराई से देखा। उसने दिखाया कि ज़्यादातर वैज्ञानिक अपने वक्त के मान्य सिद्धान्तों के दायरे में ही काम करते हैं। ऐसे विज्ञान-कर्म को कुन ने नॉर्मल साइंस और मान्य सिद्धान्तों को पैराडाइम कहा। कभी-कभार कोई वैज्ञानिक खोज ऐसी होती है जो मान्य सिद्धान्तों के मुताबिक समझ में नहीं आती। यह ऐनोमली है। जब ऐसी कई सारी ऐनोमली इकट्ठी हो जाती हैं तो नए सिद्धान्त गढ़े जाते हैं। यह पैराडाइम शिफ्ट कहलाता है। पैराडाइम शिफ्ट के साथ विज्ञान में ढाँचागत इंकलाब आते हैं। सूर्य-केन्द्रिक ग्रह-मण्डल, परमाणुओं से पदार्थ की संरचना, जैविक विकास का सिद्धान्त, क्वांटम गतिकी आदि ऐसे इंकलाब की मिसाल हैं।

पैराडाइम का सिद्धान्त और विज्ञान की आलोचना

पैराडाइम के सिद्धान्त ने विज्ञान के आलोचकों को खुली छूट दे दी। चौतरफा हमला शुरू हुआ कि विज्ञान सामाजिक-राजनैतिक प्रभावों से मुक्त नहीं है। दूसरे विश्व-युद्ध में हिरोशिमा-नागासाकी और बाद में अमेरिका और रूस के बीच शीतयुद्ध से यूरोप में फैले खौफ के माहौल, और पर्यावरण के विनाश जैसी आधुनिक जीवन की तमाम दीगर मुश्किलों की वजह से इस आलोचना को ताकत मिली।

ज्ञान-विज्ञान की सभी बातों की मुख्य समस्या यह है कि हम मान रहे हैं कि जो कुछ देखा-जाना जाता है, उसे हम अपने से अलग कर सकते हैं। यह विवादास्पद है। दृश्य में द्रष्टा के शामिल होने की समस्या ज्ञान पाने में सबसे बड़ी बाधा है। प्रकृति विज्ञान में एक हद तक इससे बचा जा सकता है, क्योंकि हम खुद प्रयोगों के आँकड़े दर्ज़ न कर मशीनों का इस्तेमाल कर सकते हैं। मानविकी में इससे निजात नामुमकिन है। हर नतीजे पर पहुँचने से पहले जिज्ञासु की पहचान करनी ज़रूरी है। विज्ञान में भी सूक्ष्म स्तर पर यानी अणु-परमाणुओं के गुणधर्मों पर द्रष्टा का प्रभाव पड़ता है। आम वैज्ञानिक खोजों में यह प्रभाव नहीं दिखता है, जबकि समाज विज्ञान में आम तौर पर खोज करने वाले की पहचान शोध के नतीजे में दिखती है। विज्ञान में प्रयोगों के चयन और आँकड़ों के विश्लेषण में

पूर्वाग्रह हो सकते हैं, इसलिए अलग-अलग लोगों द्वारा अलग-अलग जगह पर अलग-अलग समय पर जाँच ज़रूरी हो जाती है। इसके बावजूद यह कहना सही नहीं है कि वैज्ञानिक नतीजे पूर्वाग्रहों से मुक्त होते हैं। विज्ञान पढ़ाना, पाठचर्या तय करना, यह सब सामाजिक पूर्वाग्रहों से आज़ाद नहीं होते।

(जारी)

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

सभी चित्र: सौम्या मैनन: चित्रकार एवं एनिमेशन फिल्मकार। विभिन्न प्रकाशकों के बच्चों की किताबों एवं पत्रिकाओं के लिए चित्र बनाए हैं। बच्चों के साथ काम करना पसन्द करती हैं।

हम कैसे जानते हैं कि तारे किन चीज़ों से बने हैं?

राजाराम नित्यानन्द

वैज्ञानिक किसी वस्तु, यहाँ तक कि बहुत दूर किसी तारे, से निकलने वाले विकिरण के वर्णक्रम यानी स्पेक्ट्रम का अध्ययन करके उनमें उपस्थित अलग-अलग तत्वों की पहचान करते हैं। वर्णक्रम से पता चलता है कि ऊर्जा अलग-अलग तरंगदैर्ध्य में किस तरह वितरित होती है। दृश्य प्रकाश के सन्दर्भ में यह अलग-अलग रंगों का प्रतिनिधित्व करती है।

आइए, इसे और बेहतर तरीके से समझते हैं। हम जानते हैं कि परमाणु में नाभिक के आसपास चक्कर लगाते इलेक्ट्रॉन निश्चित ऊर्जा स्तर पर होते हैं। जब कोई इलेक्ट्रॉन उच्च ऊर्जा स्तर से निम्न ऊर्जा स्तर पर आता है तब परमाणु उन दोनों ऊर्जा स्तरों के बीच अन्तर के बराबर ऊर्जा उत्सर्जित करता है। यह ऊर्जा प्रकाश के कण के रूप में उत्सर्जित होती है, जिसे हम फोटॉन कहते हैं। इसके विपरीत, जब किसी इलेक्ट्रॉन को कम ऊर्जा स्तर से अधिक ऊर्जा स्तर पर जाना होता है तो परमाणु को बाहर से आने वाले फोटॉन के रूप में फोटॉन ऊर्जा की ज़रूरत होती है, जिसकी ऊर्जा उन दो स्तरों के बीच के अन्तर के बराबर हो। इस फोटॉन को अवशोषित कर लिया जाता है।

फोटॉन का प्रस्ताव आइंस्टाइन ने 20वीं शताब्दी के शुरू में दिया था और भौतिकशास्त्री स्वीकार करते हैं कि फोटॉन का व्यवहार तरंग जैसा भी हो सकता है। उच्चतर ऊर्जा वाले फोटॉन कमतर तरंगदैर्ध्य यानी वेवलेंग्थ वाली तरंगों की तरह व्यवहार करते हैं। इसी लिए, उदाहरण के तौर पर, नीले रंग के फोटॉन जिनकी ऊर्जा लाल रंग के फोटॉन से अधिक है, उसकी तरंगदैर्ध्य लाल रंग से कम होती है।

अन्त में, हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक तत्व में अलग-अलग स्तर की ऊर्जा निश्चित होती है। इसलिए किसी एक तत्व से निकलने वाली और अवशोषित होने वाली ऊर्जा निश्चित तरंगदैर्ध्य की होती है। ये तरंगदैर्ध्य, किसी परमाणु में ऊर्जा स्तरों में अन्तर से परिभाषित की जाती है। हम इस ज्ञान का उपयोग किसी वस्तु से निकलने वाले विकिरण के स्पेक्ट्रम के

विश्लेषण में करते हैं। यदि किसी वस्तु से मिलने वाले विकिरण में कोई आवृत्ति कमज़ोर या अनुपस्थित होती है तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि यह विकिरण ऐसे तत्वों से होकर गुज़र रहा है जो इस विशेष तरंगदैर्ध्य को अवशोषित करते हैं।

चलिए, अपने सूर्य का उदाहरण लेकर यह समझने की कोशिश करते हैं कि हम इसे तारों के अध्ययन के लिए कैसे उपयोग करते हैं (चित्र-1)। सूर्य की सतह से निकलने वाला प्रकाश लगभग एक सतत वर्णक्रम बनाता है, जिसमें तरंगदैर्ध्यों की शृंखला होती है। अलबत्ता, जब यह प्रकाश सूर्य के बाहरी वातावरण से गुज़रता है तो प्रकाश की कुछ विशेष तरंगदैर्ध्य अवशोषित हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप हमें एक ऐसा वर्णक्रम मिलता है जिसमें स्पष्ट अवशोषण रेखाएँ होती हैं (चित्र-2)। प्रयोगशाला में किए गए प्रयोग सोडियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम, लौह और अन्य तत्वों के ऐसे ही अवशोषण हस्ताक्षर दिखाते हैं। हम जानते हैं कि ये तत्व सूर्य की ज़्यादा गर्म आन्तरिक परत से आने वाले सतत वर्णक्रम से बहुत विशिष्ट तरंगदैर्ध्य को फिल्टर करते हैं। खगोलविद इन रेखाओं का मिलान तत्वों के ज्ञात स्पेक्ट्रम से करते हैं और इस तरह वे सूर्य के वातावरण में उपस्थित गैसों का पता लगा पाते हैं।

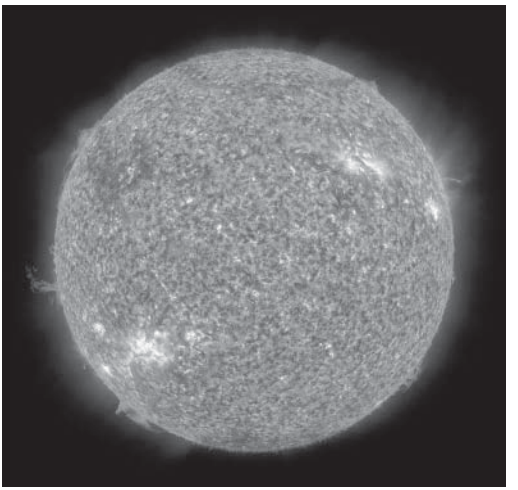

चित्र-1: *हमारे सूर्य की तस्वीर। क्रेडिट: नासा/ एस डी ओ (एआईए), विकिमीडिया कॉमन्स*

नए तत्व की खोज

यदि ऐसा हो कि सूर्य के वर्णक्रम में कोई अवशोषण रेखा किसी भी ज्ञात तत्व से मेल नहीं खाती हो, तो? इसका एक उदाहरण फ्रेंच खगोलविद जेस जैन्सेन द्वारा 18 अगस्त 1868 को गुन्टूर (आजकल के आन्ध्र प्रदेश) में पूर्ण सूर्य ग्रहण के दौरान लिए गए सूर्य के वर्णक्रम में देखने को मिला। सूर्य ग्रहण सूर्य की बाहरी परत से विकिरित उत्सर्जन को देखने का एक बिरला मौका उपलब्ध कराता है जब मुख्य चकती की चकाचौंध उसे धुँधला नहीं कर पाती।

प्रकाश की इन पट्टियों के विश्लेषण से जैन्सन ने एक बहुत ही तेज़ पीली उत्सर्जन रेखा देखी जो

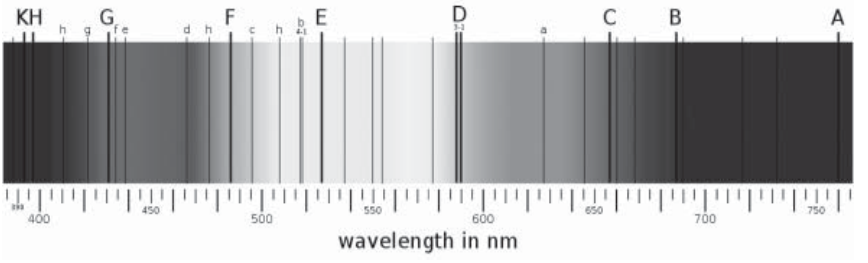

चित्र-2: *सौर वर्णक्रम में फ्रॉनहॉफर रेखाएँ।*

588 नेनोमीटर से कम थी। यह रेखा धरती पर उस समय मिलने वाले तत्वों में से किसी से भी मेल नहीं खाती थी। 20 अक्टूबर 1868 को अँग्रेज़ खगोलशास्त्री नार्मन लॉकेयर ने इसी असामान्य पीली रेखा को एक अलग प्रयोग में देखा। लॉकेयर ने इसे पृथ्वी के बाहर पाए जाने वाले नए तत्व के रूप में पहचाना और इसका नाम हीलियम रखा जो helios यानी सूर्य पर आधारित था। हेलिऑस सूर्य का साकार यूनानी रूप है। 1882 में जाकर इसी वर्णक्रम रेखा को इटली के भौतिकशास्त्री ल्यूगी पामिएरी ने इटली के माउंट वेसुवियस के लावा के विश्लेषण के दौरान देखा, लगभग अक्रियाशील आणविक गैस के रूप में। यह पहला संकेत था कि हीलियम पृथ्वी पर भी पाई जाती है। इसकी पुष्टि 1894 में तब हुई जब स्कॉटिश रसायनज्ञ विलियम रैमसे ने क्लेवाइट खनिज को अम्ल से उपचारित करके पृथक किया। हीलियम एकमात्र तत्व है जिसे खगोलशास्त्रियों ने खोज निकाला। जेन्सन और लॉकेयर को इसका संयुक्त श्रेय मिला।

राजाराम नित्यानन्द: ICTS-TIFR, बेंगलुरु से सम्बद्ध हैं। अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु से सेवानिवृत्त। इससे पहले वे पुणे में नेशनल सेंटर फॉर रेडियो ऐस्ट्रोफिज़िक्स (NCRA) में थे और उससे भी पहले रमन रिसर्च इंस्टिट्यूट (आर.आर.आई.), बेंगलुरु में। वे 3 साल तक विज्ञान शिक्षा पत्रिका *रेज़ोनेन्स* के सम्पादक भी रहे।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: अर्पिता व्यास: मंदसौर इंटरनेशनल स्कूल, मंदसौर में विज्ञान संकाय में करिक्यूलम डिवेलपर के रूप में कार्यरत। इसके पहले *एकलव्य* की विज्ञान टीम के साथ काम किया। विज्ञान पढ़ाने और सीखने में रुचि। वर्तमान में विशेष शिक्षा पर काम कर रही हैं।

यह लेख *आई-वंडर* पत्रिका के अंक दिसम्बर 2021 से साभार।

बेटा करे सवाल

अंजू गोस्वामी, गायत्री यादव, दीक्षा यादव

हम अपने आसपास देखते हैं, अखबार-पत्रिकाओं में पढ़ते हैं कि लड़कियों के लिए बहुत सारे कानून बनाए गए हैं। लेकिन हम लड़कियों को हक दिलाते-दिलाते कहीं-न-कहीं लड़कों के अधिकारों को भूल रहे हैं। देखा जाए तो सिर्फ लड़कियाँ ही नहीं, लड़के भी कई सामाजिक परेशानियों के दौर से गुज़रते हैं। इस लेख में समझने की कोशिश करेंगे कि लड़कों को अक्सर किस-किस तरह की परेशानियों और बन्धनों का सामना करना पड़ता है।

भावनाएँ

हम बचपन से ही देखते आ रहे हैं कि जब पापा-मम्मी कोई खिलौना लाते थे तो भाई के लिए ट्रक और हमारे लिए गुड़िया लाई जाती थी। भाई कहता था कि "यह गुड़िया मुझे बहुत प्यारी लग रही है, मुझे भी इससे खेलना है। यह ट्रक तुम रख लो।" इस पर पापा कहते, "नहीं बेटा, वह तुम्हारे लिए नहीं है। तुम्हारे लिए ट्रक है, घोड़ा है, ट्रैक्टर है। गुड़िया से लड़कियाँ खेलती हैं।" भाई का मुरझाया हुआ चेहरा देख, मेरे मन में यह कशमकश चलती कि ऐसा क्यों है कि लड़के गुड़िया से नहीं खेल सकते।

ऐसे ही हम देखते आ रहे हैं कि कई बार लड़कों को तैयार होने का मन होता है, लड़कियों के साथ घूमने का मन होता है लेकिन कहीं-न-कहीं शुरुआत से ही ऐसी मानसिकता बना दी जाती है जिससे लड़के-लड़कियों में भेद किया जाने लगता है। इसके कुछ उदाहरण देखते हैं - 'तू लड़का है, लड़कियों जैसे तैयार नहीं हो सकता, लड़कियों के साथ घूम नहीं

सकता, कक्षा में लड़का-लड़की अलग-अलग बैठेंगे, तू लड़का है तो बात-बात पर रोना नहीं'। एक तरह से उसे मज़बूत बनाए रखने के लिए उसकी भावनाओं को लगातार दबाया जाता है और उस पर कई सारी बन्दिशें लगा दी जाती हैं।

लड़कियों से बात करने में झिझक

कुछ लड़के लड़कियों से बात करने में बहुत झिझकते हैं। डरते हैं कि कहीं उनकी बातों से किसी लड़की को असहज महसूस न हो। लेकिन कई बार यह कहते हुए कि इस लड़के की नीयत ठीक नहीं है, यह तो लड़कियों के आसपास ही मण्डराता रहता है, लड़कों के चरित्र पर भी सवाल खड़े कर दिए जाते हैं। कुछ लड़के तो इस प्रवृत्ति के होते हैं लेकिन कुछ पर ये इल्ज़ाम थोप दिए जाते हैं। ऐसी स्थितियों में यह कहावत सटीक बैठती है कि 'गेहूँ के साथ घुन भी पिसता है'।

पीटना-छेड़छाड़

जब मैं नौवीं कक्षा में थी, तब मेरी सहपाठी एक लड़के को पसन्द करती थी किन्तु वह लड़का उसे भाव नहीं देता था। एक दिन स्कूल की छुट्टी होने के बाद लड़की ने उसे रोका और उनके बीच कुछ बातचीत हुई। कुछ देर बाद लड़की वहाँ से बहुत गुस्से में निकल गई। उस लड़के से पूछने पर उसने हमें बताया कि "वह लड़की मेरे पीछे पड़ी हुई है। मैंने उसे बहुत समझाया कि मैं तुम्हारे बारे में ऐसा नहीं सोचता हूँ तो उसने मुझे धमकाया कि वह कल जाकर सर से मेरी शिकायत कर देगी कि मैं उसे परेशान कर रहा था। मैं थोड़ा डर गया लेकिन फिर भी मैंने कह दिया कि 'जाओ, कर दो शिकायत'।" दूसरे दिन उस लड़की ने लड़के की शिकायत कर दी। लड़के को बहुत डाँटा गया। उसके पापा को बुलाया गया और उसे चेतावनी दी गई कि दोबारा ऐसा हुआ तो उसे स्कूल से निकाल दिया जाएगा।

मुझे इस बात का बहुत बुरा लगा कि उस लड़के की गलती नहीं होने के बावजूद उसे गलत ठहराया गया। उसे सफाई देने का मौका नहीं मिला। वह लड़का 10वीं में पढ़ता था और यह सब होने के बाद वह 10वीं में फेल हो गया। इसके बाद उसने आगे पढ़ाई जारी नहीं रखी।

इस घटना के बाद मुझे महसूस हुआ कि उस लड़के के हक के लिए भी आवाज़ उठाई जानी चाहिए थी क्योंकि हमेशा लड़के ही गलत नहीं होते। जिस तरह कई बार कुछ लड़के लड़कियों के साथ छेड़छाड़ करते हैं, उसी तरह लड़कों के साथ भी लड़कियाँ छेड़छाड़ करती हैं। लेकिन वहाँ पर भी लड़कों को ही गलत ठहराया जाता है। अगर लड़के अपने हक के लिए बातचीत भी करना चाहें तो उनकी आवाज़ को दबा दिया जाता

है। स्कूल में भी लड़कियों की तुलना में लड़कों की ज़्यादा पिटाई होती है। लड़का-लड़की की आपसी लड़ाई या पति-पत्नी के बीच की लड़ाई में कभी-कभी महिला पुरुष को पीट देती है। लेकिन पुरुष चाह कर भी अपनी आपबीती किसी से साझा नहीं कर पाता क्योंकि ऐसा करने पर उसका मज़ाक उड़ाया जाता है कि 'अबे, तू कैसा मर्द है, औरत से पिट गया'।

मानसिकता

एक तरफ हम देखते हैं कि लड़कियों के साथ छेड़छाड़, घरेलू हिंसा और बलात्कार के लिए अलग-अलग कानून बने हुए हैं लेकिन दूसरी तरफ हम पाते हैं कि इन संगीन मामलों के शिकार लड़के भी हो रहे हैं। परन्तु लड़कों के साथ हुई घटनाओं के प्रति समाज का नज़रिया कुछ अलग होता है। लोग सोचते हैं कि लड़कों के साथ ऐसा कैसे हो सकता है। इसी तरह, लड़कियाँ आपस में गले मिल लेती हैं, किस कर लेती हैं, हाथ-में-हाथ डालकर घूम लेती हैं लेकिन यदि यही काम लड़के करते हैं तो लोग कहते हैं कि 'कैसी समलैंगिक जैसी हरकत कर रहा है'।

इस पर मैं अपना एक अनुभव साझा करना चाहूँगी। मेरा भाई बचपन से ही हम बहनों के बीच रहा है। वह आज भी लड़कियों के समूह में रहने में स्वच्छन्द महसूस करता है। एक दिन मेरी चाची ने उसे कहा, "कैसे बाई (महिला) जैसा होता जा रहा है। लड़कियों के बीच में रहता है।" गाँव में भी लोग उसे 'बाई' बोलकर चिढ़ाते हैं। इसी तरह मेरी कोचिंग में भी एक भैया आते थे जिनकी चाल-ढाल लड़कियों जैसी थी। सभी बच्चे उन्हें 'लेडी बॉय' बोलते थे। उनके चाल-चलन से उन्हें आँका जाने लगा था।

संकोच

लड़कियों को अपने जनन अंगों और अपने शरीर में होने वाले बदलावों के बारे में बताने में झिझक होती है। किन्तु वे अपनी माँ, बड़ी बहन एवं

दोस्तों से ये बातें साझा कर लेती हैं। उसी तरह लड़कों को भी जनन अंगों से सम्बन्धित दिक्कतें होती हैं जैसे निजी भाग में जलन, छिल जाना, लग जाना। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि 13-14 वर्ष की उम्र में लड़कों में सीमन यानी वीर्य निर्माण शुरू हो जाता है। कई बार कुछ लड़कों में अपने आप सीमन निकल जाता है। लड़कों को अपने घरवालों से स्वप्नदोष या सीमन रिलीज़ होने के बारे में बात करना बहुत ही शर्मनाक लगता है। एक दफा बिस्तर में पेशाब कर दें, तो उसे बता पाना आसान लगता है किन्तु इस बारे में बताना नहीं। वे इन दिक्कतों को छुपाकर रखते हैं।

ज़िम्मेदारी

समाज और परिवार द्वारा लड़कों को बार-बार यह याद दिलाया जाता है कि "तुम एक लड़के हो, तुम्हें घर की ज़िम्मेदारी उठानी है।" लड़कियाँ 8वीं या 12वीं तक पढ़ती हैं या नहीं भी पढ़ती हैं तो उनके माता-पिता उनकी शादी करवा देते हैं। वहीं, लड़का पढ़ाई पूरी करे या न करे, उस पर ज़बरदस्ती ज़िम्मेदारियाँ डाल दी जाती हैं कि "तुम्हें कमाना है, पूरा घर चलाना है। कमाओगे नहीं तो तुम्हें कोई लड़की नहीं देगा। अपने बीवी-बच्चों को कैसे पालोगे, क्या उनसे भीख मँगवाओगे?" आदि।

इस तरह के ताने मारकर उन्हें मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। उनके आत्मविश्वास को गहरी चोट पहुँचती है जिससे कई बार लड़के चिड़चिड़े और गुस्सैल प्रवृत्ति के हो जाते हैं। हमारे समाज में लड़कों को आँकने का एक प्रमुख मापदण्ड है – उनकी सफलता का स्तर। इन सब मानसिक तनावों से लगातार जूझने के कारण कई बार लड़के मारपीट करना या आत्महत्या जैसे कदम तक उठा लेते हैं।

जोरू का गुलाम

हमारी एक दीदी हैं जिन्होंने लव मैरिज की है। उन्होंने बताया कि "मेरे पति मेरी बहुत मदद करते हैं। हम दोनों को ऑफिस जाना पड़ता है। इसलिए हम दोनों मिलकर घर का सारा काम करते हैं। कई बार जब मुझे ज़्यादा काम होता है तो मेरे पति खाना बना देते हैं और कपड़े धो देते हैं। लेकिन मोहल्ले की औरतें आपस में बात कर रही थीं कि 'इसकी पत्नी कैसी है। पति से काम करवाती है। इसको थोड़ी-सी भी शर्म नहीं है। कैसा आदमी है। औरतों वाले काम करता है। अपनी पत्नी की उंगली पर नाचता है। पूरा जोरू का गुलाम है। इससे अच्छा तो इसे औरत ही बना देना चाहिए था। भगवान ने गलती कर दी उसे लड़का बनाकर'।" जो पुरुष घरेलू कामों में मदद करना चाहते हैं, उन्हें भी इस तरह की बातें करके एवं ताने मार के रोक दिया जाता है।

दायरे

समाज ने लड़कों को अलग-अलग दायरों में बाँध रखा है। जैसे 'तुम लड़के हो, तुम्हें पेंट-शर्ट पहनना चाहिए, छोटे बाल रखना चाहिए'। उन्हें काम, भावनाएँ, कपड़े, रूप-रंग, कमाई या व्यवसाय, चाल-ढाल, रहन-सहन आदि से आँका जाता है। हम अपने आसपास देखते हैं कि पुरुषों को महिलाओं की तुलना में ज़्यादा मेहनत वाला काम दिया जाता है। महिलाओं को घर के व पुरुषों को बाहर के काम के दायरों में बाँट दिया जाता है।

टेलीविज़न, समाचार पत्र, विज्ञापनों आदि के माध्यम से भी पुरुषों को सख्त, कठोर और भावनाहीन दिखाया जाता है जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुरुषों में भी भावनाएँ होती हैं। लेकिन उन्हें सख्त बने रहने के लिए मजबूर किया जाता है। एक विज्ञापन (fair and handsome) में दिखाया जाता है कि जैसे ही एक लड़का *फेयर एंड लवली* क्रीम लगाता है तो पीछे एक गाना बजने लगता है (परी हूँ मैं...)। फिर एक जाने-माने अभिनेता आकर बोलते हैं कि 'मर्दों की सख्त त्वचा पर *पिंक फेयरनेस क्रीम* है बेअसर। 11 मुल्कों के मर्दों की सख्त त्वचा के लिए है *फेयर एंड हैंडसम* क्रीम। इसे लगाओ, गज़ब का गोरापन पाओ'।

एक और विज्ञापन है जिसमें एक लड़का अखाड़े में लड़कियों वाली फेयरनेस क्रीम लगाता है। इस पर हमारे एक अभिनेता कहते हैं कि 'लड़कियों वाली क्रीम लगा रहा है। कल नेल पॉलिश लगाएगा, परसों लिपस्टिक लगाएगा, फिर लंगोट उतारकर लहंगा पहन लेगा। मर्दों की त्वचा होती है सख्त, लड़कियों की क्रीम होती है बेअसर। पहलवान *फेयर एंड हैंडसम* लगा'। लड़के इन सब मसलों में सहज हों या न हों, लेकिन उन पर इन चीज़ों का गहरा सामाजिक दबाव आ जाता है।

सार

इससे हमें यह समझ में आता है कि ज़रूरी नहीं है कि लड़के-लड़कियों के लिए बनाए गए सामाजिक कायदे सही हों। इन रूढ़ीवादी विचारधाराओं ने लोगों की मानसिकताओं को गम्भीर रूप से घायल एवं विकृत कर दिया है। एक तरफ महिलाओं के लिए बने कायदे-कानूनों को बेहतर बनाने के प्रयास चल रहे हैं, लेकिन दूसरी तरफ लड़कों के प्रति हो रहे व्यवहार को नज़रन्दाज़ किया जा रहा है। हम सब भी किसी-न-किसी रूप में इन सब बातों को बढ़ावा देते हैं। लड़कों के दिमाग में जाने-अनजाने यह बैठा दिया जाता है कि मर्द को दर्द नहीं होता, मर्द की कोई भावनाएँ नहीं होतीं, उसे रोना नहीं चाहिए, वह हर वो काम कर सकता है जो महिलाएँ नहीं कर सकतीं, वह कठोर परिश्रम कर सकता है, वह अकेला रह सकता है, कहीं भी जीवनयापन कर सकता है आदि। पुरुषों का भी अस्तित्व होता है, परन्तु इन सामाजिक ढकोसलों एवं मान्यताओं ने उनकी भावनाओं को खोखला कर दिया है। हमें समाजिक तौर पर इस सोच में बदलाव लाने के लिए कदम बढ़ाने चाहिए।

अंजू गोस्वामी: वर्तमान में *एकलव्य* के लाइब्रेरी एण्ड रीडिंग इनिशिएटिव, ओबैदुल्लाहगंज में लाइब्रेरी सपोर्ट पर्सन की भूमिका में कार्यरत। इसके पहले मोहल्ला लर्निंग एक्टिविटी सेंटर, *एकलव्य,* शाहपुर में बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शामिल रहीं। कोविड दौर से बच्चों और समुदाय के लोगों को डॉक्टरी परामर्श में दिखाने का काम भी करती हैं। लिखने में और शिक्षा के क्षेत्र में बच्चों के साथ ज़मीनी स्तर पर काम करने में दिलचस्पी।

दीक्षा यादव: पिछले तीन साल से *एकलव्य,* शाहपुर में बतौर संचालक के रूप में बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शामिल रहीं। वर्तमान में *एकलव्य* के लाइब्रेरी एण्ड रीडिंग इनिशिएटिव, ओबैदुल्लाहगंज में लाइब्रेरी सपोर्ट पर्सन के रूप में कार्यरत हैं। बच्चों के साथ काम करने में रुचि रखती हैं।

गायत्री यादव: पिछले तीन सालों से मोहल्ला लर्निंग एक्टिविटी सेंटर, *एकलव्य,* शाहपुर और प्राथमिक स्कूल में गेस्ट टीचर के रूप में शिक्षण कार्य से जुड़ी हुई हैं।

सभी चित्र: हरमन: चित्रकार हैं। दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट, नई दिल्ली से फाइन आर्ट्स (चित्रकारी) में स्नातक और अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर। भटिंडा, पंजाब में रहती हैं।

यह लेख सितम्बर, 2022 में *एकलव्य* द्वारा आयोजित 'लेखन कार्यशाला' के दौरान विकसित किया गया था।

इस लेख में उठाए गए मुद्दों के सन्दर्भ में, हाल ही में, *एकलव्य* द्वारा किशोरावस्था के मुद्दों से सम्बन्धित एक किताब *बेटा करे सवाल* भी प्रकाशित की गई है। लेखक: अनु गुप्ता व संकेत करकरे। मूल्य: 260 रुपए।

मेरी शिक्षण यात्रा

एकता चौरे

मेरा नाम एकता चौरे है। मैं शासकीय जनजातीय बालक आश्रमशाला (अँग्रेज़ी माध्यम) होशंगाबाद में प्राथमिक शिक्षक के रूप में पदस्थ हूँ। हम तीन बहनें और एक भाई हैं। मेरी बड़ी दीदी पूर्ण रूप से दृष्टिहीन हैं और यूनियन बैंक, इन्दौर के क्षेत्रीय कार्यालय में सहायक शाखा प्रबन्धक के पद पर हैं। वही मेरी प्रेरणा स्रोत रहीं। मैं और मेरी छोटी बहन भी बचपन से आंशिक दृष्टिहीन हैं। हम तीनों बहनें ग्लूकोमा नामक नेत्र रोग से ग्रसित हैं। तीन पुत्रियों के दृष्टि-बाधित होने के बाद भी मेरे पिता श्री कैलाश कुमार चौरे ने कभी जीवन से हार नहीं मानी और हमें हमेशा संघर्ष करने की प्रेरणा दी। मेरे पिता जी मुझे बचपन से श्री सोहनलाल द्विवेदी जी द्वारा रचित कविता 'हारिए न हिम्मत' पढ़कर सुनाया करते थे जिससे मेरी साहित्य के प्रति रुचि और अधिक बढ़ गई और जीवन से संघर्ष करने की प्रेरणा भी मिली। इस कविता के कुछ अंश मैं लेख में आगे उद्धरित करती रहूँगी।

कक्षा दसवीं तक मैंने स्वयं की आँखों से शिक्षा प्राप्त की। मुझे कहाँ पता था कि उसके बाद पराई आँखें मेरी सफलता के लिए हकदार होंगी। कक्षा दसवीं की वार्षिक परीक्षा के दौरान, गणित के प्रथम प्रश्नपत्र की शुरुआत होने के पन्द्रह मिनट पहले ही, मेरी जिस आँख में थोड़ा-बहुत दिखता था, वह भी दुर्घटनावश मुझसे छिन गई। हालातों से लड़ते हुए, अपने मनोबल को सम्भाले मैंने कक्षा दसवीं प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। यहीं से मेरी संघर्ष भरी यात्रा शुरू हुई।

गणित विषय में मेरी विशेष रुचि थी, इसलिए मेरे शिक्षक के मना करने के बावजूद मैंने अपनी ज़िद से यह विषय चुना, और कक्षा बारहवीं गणित विषय के साथ उत्तीर्ण की। परन्तु किस्मत को कहाँ मंज़ूर था कि मैं इंजीनियर बन सकूँ।

देखा है जो सपना हमने,
उसको तो पूरा करना है
स्वयं बनाए पथ पर,
हमको आगे बढ़ना है।
मुश्किलों को आसान बना,
नई उम्मीदों के रंग भरना है
उज्जवल ज्ञान प्रकाश के बल पर,
फिर से हमें सम्भलना है।

आँखों की चोट और पूर्व आंशिक दृष्टि के परिणामस्वरूप अन्ततः मेरी आँखों की रोशनी ने कक्षा बारहवीं के बाद दम तोड़ दिया और मुझे अन्धकार के गर्त में ला खड़ा किया। मैंने जीवन में कुछ कर पाने की उम्मीद ही छोड़ दी थी। लेकिन कहते हैं ना, हर निराशा के पीछे आशा छुपी होती है। तो उसी आशा की किरण में मैंने अपनी उम्मीद नहीं खोई, और इन्दौर के दृष्टिबाधित विद्यालय में दाखिला ले लिया तथा वहाँ से ब्रेल लिपि सीखी जिससे कि मैं अपने कार्य और शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकूँ। साथ ही, वहीं से मुझे स्नातक की पढ़ाई पूरी करने की प्रेरणा मिली।

अँधियारों में दीपक बनकर,
स्वयं की ज्वाला से जलेंगे हम।
सूरज चाहे नहीं बनें पर,
खुद को रोशन करेंगे हम।

शिक्षक बनने की राह

अब मेरा वर्तमान उन दिनों की तरह नहीं था जब मैं सामान्य स्थिति में अपने कार्यों को आसानी-से कर सकती थी। मुझे हर दिन एक नई चुनौती का सामना करना पड़ता था। कॉलेज में विषय के परिवर्तन के साथ ही, जीवन में होने वाले परिवर्तनों के साथ भी मैंने चलना सीख लिया था। मुझे जब यह पता चला कि दृष्टिहीन व्यक्ति भी नौकरी कर सकते हैं, विशेष रूप से एक शिक्षक की नौकरी, तब मैंने शिक्षक पात्रता परीक्षा की तैयारी प्रारम्भ कर दी। मेरे बहुत सारे साथी दृष्टिबाधित शिक्षक के पदों पर कार्य कर रहे थे, उन्हीं से मुझे प्रेरणा मिली।

उन दिनों मैं बी.ए. द्वितीय वर्ष की पढ़ाई कर रही थी। तभी शिक्षक के पद की नियुक्ति निकली। उसके आवेदन के लिए मेरे पिता ने संविदा शाला शिक्षक वर्ग-3 की पूरी किताब को उस समय में चलने वाले टेप रिकॉर्डर की कैसेट्स में रिकॉर्ड किया। उन रिकॉर्डिंग को सुनकर मैं वस्तुनिष्ठ प्रश्न-उत्तर की तैयारी करने में जुट गई। वह परीक्षा मैंने एक सहायक लेखक की सहायता से उत्तीर्ण की।

मिलते नहीं सहज ही मोती
गहरे पानी में,
बढ़ता दुगना उत्साह
इसी हैरानी में।
मुट्ठी उसकी खाली
हर बार नहीं होती,
कोशिश करने वालों की
हार नहीं होती।

मेरी सफलता ने मेरे परिवार और समाज में एक नवीन प्रभाती किरण जगा दी, मानो यह कोई नई रोशनी

की शुरुआत हो। मेरी दोनों बहनों के लिए नई उमंग, तरंग बनकर उनकी रगों में बहने लगी, कि हमारे जीवन में भी नया सवेरा होगा। उस समय इटारसी-होशंगाबाद क्षेत्र के हमारे परिचित जनों में किसी भी दृष्टिबाधित की नौकरी का प्रस्ताव नहीं आया था। कई परिजन आश्चर्यचकित रह गए। कुछ कहने लगे कि "शिक्षक बनना आसान काम नहीं है", तो कुछ कहते कि "यह क्या पढ़ाएगी। यह कैसे पढ़ाएगी।" पर कहते हैं न कि मेहनत इतनी खामोशी से करो कि सफलता शोर मचा दे। शायद इसी वजह से आज मेरे समाज और पिछड़ी मानसिकता वाले लोगों ने चुप्पी साध ली है।

पिछड़ी मानसिकता और सामाजिक कुरीतियाँ
हमें स्वीकार नहीं,
क्योंकि ज्ञान रूपी चक्षु में
उत्पन्न कोई विकार नहीं।

पहली नौकरी के संघर्ष

भगवान के आशीर्वाद और माता-पिता के अथक प्रयासों से मुझे यह सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। मेरी नियुक्ति भोपाल ज़िले की बैरसिया तहसील के अन्तर्गत 'रुनाहा' नामक गाँव की एक प्राथमिक शाला में हुई। कहते हैं न ठोकर खाकर ही ठाकुर बनते हैं; शायद भगवान ने जीवन में कई ठोकरें लिखी हुई हैं। वहाँ जाकर मुझे ऐसा लगने लगा कि शायद मैं यह नौकरी कर पाने में असमर्थ रहूँगी, क्योंकि वह गाँव इतना पिछड़ा हुआ था कि वहाँ न तो बिजली आती थी, न ही पानी की कोई सुरक्षित व्यवस्था थी। यह सब पता चलने पर हमारे पिता जी बहुत निराश हो गए, और उन्होंने बैरसिया कार्यपालन अधिकारी से कहा कि ऐसी परिस्थिति में उनकी बेटी नौकरी नहीं कर सकेगी। तब उन पिता-रूपी अधिकारी ने मुझे समझाया, "आप चाहें तो दो दिन बाद ही नौकरी से इस्तीफा दे सकती हैं। लेकिन पहले से मना न करें।" क्षण भर में मेरी ज़िन्दगी का

फैसला मेरे हाथ में था। परन्तु मैं कुछ कर पाने में असमर्थ थी। यदि मेरी माँ मेरा साथ न देती तो शायद आज मैं शिक्षक के पद पर न होती। मेरी माँ अपना सारा घर-परिवार छोड़कर मेरे साथ उस गाँव में रहने के लिए तैयार हो गई। क्योंकि घर से गाँव बहुत दूर था इसलिए उस गाँव में रहकर ही नौकरी किया जाना सम्भव था। इस प्रकार मेरे शिक्षक होने की यात्रा शुरू हो गई।

एक अजूबा शिक्षक

जैसे ही मैंने स्कूल में प्रवेश किया, सभी को ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई अजूबा-सा आ गया हो। सभी शिक्षक एवं विद्यार्थी खड़े होकर मुझे देखने लगे। उनके मन में प्रश्नों की असंख्य लहरें उठ रही थीं। परन्तु वे सभी उस समय चुप थे और मेरे कार्य को देखने के लिए बहुत उत्सुक थे। मुझे इन असहज परिस्थितियों का सामना तो करना ही था, और मैं पूरी तरह तैयार भी थी। हर जगह हर परिस्थिति से लड़ने से मुझे नई दिशा मिल रही थी। शिक्षकों के साथ सामान्य चर्चा के पश्चात मैंने कक्षा चौथी को पढ़ाने का आग्रह किया, और उन्होंने मेरा आग्रह स्वीकार कर लिया।

अक्सर जब मैं कक्षा चौथी को पढ़ाया करती थी, तो बच्चों के पालक और साथी-शिक्षक बाहर से खड़े होकर देखते थे, कि मैडम किस प्रकार पढ़ाती हैं। कई बार तो ऐसा हुआ कि मेरे पढ़ाते समय कई छात्र कक्षा से भाग जाया करते थे। उन्हें लगता था कि मैडम को पता नहीं चलेगा। लेकिन मैं उन्हें यह सोचकर छोड़ देती थी कि बालक यदि शैतानी नहीं करेंगे तो कौन करेगा। लेकिन जब उन्होंने मेरे पढ़ाए हुए बच्चों को देखा कि वे बहुत कुछ सीखने लगे हैं, तो अपने-आप कक्षा में बच्चों की संख्या बढ़ने लगी। सब को लगा कि यह मैडम हमारे स्कूल में सचमुच पढ़ाने का कार्य करने आई हैं। गाँव के उन सभी लोगों का मत गलत साबित हुआ जो यह सोचा करते थे कि यह क्या पढ़ाएगी। बाद में सभी लोग मान गए कि मैडम भी पढ़ा सकती हैं और हमारे बच्चों का भविष्य बना सकती हैं। जो पहले मुझसे बात तक नहीं करते थे, वे पालक भी मेरे पास आकर बैठने लगे और अक्सर मुझसे कहते, "मैडम, आप जब से आई हैं, हमारे बच्चे हिन्दी भी पढ़ने लगे और अँग्रेज़ी भी बोलने लगे।"

एकता की परीक्षा

लगभग 6 वर्षों तक मैं रुनाहा में कार्य करती रही। दिन में स्कूल में बच्चों को पढ़ाती और रात में मेरी माँ मुझे किताबें पढ़कर सुनाया करती थी। इस तरह मैंने हिन्दी में बी.ए. और एम.ए. किया। लेकिन एक कुण्ठा मेरे मन में हमेशा बनी रही। वो यह कि मैंने मेरे छोटे भाई को चार वर्ष की उम्र में ही अपनी माँ से अलग

करने का पाप किया था। माँ ने मेरे लिए उसको भी छोड़ दिया। मेरे घर में स्थिति बिगड़ने लगी। मेरे नाम का उलटा ही अर्थ निकलने लगा – 'एकता' जो कि सभी को एक सूत्र में बाँधती है, पर यहाँ तो मेरा परिवार बिखरने लगा। यह मैं नहीं देख सकती थी। मैं स्थानान्तरण करवाने की कोशिश करने लगी और सन 2015 में मेरा स्थानान्तरण आदिम जाति कल्याण विभाग के अन्तर्गत जनजातीय बालक आश्रम शाला (अँग्रेज़ी माध्यम), होशंगाबाद में हो गया।

एक नई शुरुआत

होशंगाबाद आकर मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि जैसे मैंने खुले आसमान के नीचे साँस लेना शुरू कर दिया हो। यहाँ का वातावरण उस ग्रामीण अंचल के वातावरण से बहुत भिन्न था। वहाँ की वायु भले ही सुगन्धित, शुद्ध और स्वच्छ थी, लेकिन शहरी माहौल में रहने वाली मैंने ये छह साल बड़ी ही कठिनाई से गुज़ारे। होशंगाबाद में आदिवासी विकास विभाग के स्कूल में आने पर मुझे बहुत ही सुशिक्षित और सहयोगी शिक्षक साथियों का साथ मिला। अब तक मैंने जो विभिन्न तकनीकों के साथ शिक्षण कार्य किया था, उसमें धीरे-धीरे समय के साथ बहुत निखार आने लगा। शिक्षक की भूमिका, एक शिक्षक की कार्यशीलता और बालकों को पढ़ाने के प्रति उनकी कार्यक्षमता और लगन को देखकर मुझे भी बच्चों को पढ़ाने में मज़ा आने लगा।

यहाँ मुझे जो सुकून मिल रहा था, वैसा पहले कभी नहीं मिला। बच्चों के साथ रहकर मैं भी बच्चों की तरह ही व्यवहार करने लगी। मुझे बच्चों के साथ खेल-खेल में सीखना और सिखाना बहुत अच्छा लगा। यहाँ पर मुझे नए शिक्षक साथियों का बहुत सहयोग मिला। मैंने स्टाफ के साथ विभिन्न प्रकार की शैक्षणिक गतिविधियों में भाग लिया और तकनीकी संसाधनों का शिक्षा में प्रयोग किया। स्टाफ की मदद से मुझे वे सभी सुविधाएँ मिलीं जो ग्रामीण अंचल में नहीं मिल पाईं। बच्चों के प्रति मेरी पढ़ाने की लगन देखकर मेरे प्रधान पाठक ने मुझे ब्रेल की किताबें ला दीं। उन्हीं से मिली प्रेरणा से मैंने दोबारा अँग्रेज़ी विषय से एम.ए. किया और साथ ही शास्त्रीय संगीत सीखना भी प्रारम्भ किया। मैंने दृष्टिबाधितों के हितार्थ विशेष शिक्षा में बी.एड. की डिग्री प्राप्त की।

खुली आँखों से अब तक जो भी दिखा,
बन्द आँखों के पर्दे पर झिलमिलाने लगा।
एहसास और अनुभवों की रोशनी में,
नई मंज़िल का पथ जगमगाने लगा।

मैंने अपनी आँखों से जो भी पढ़ा था वह सब-कुछ बोर्ड पर लिखकर बच्चों को पढ़ाती हूँ। मैंने थोड़ा-बहुत

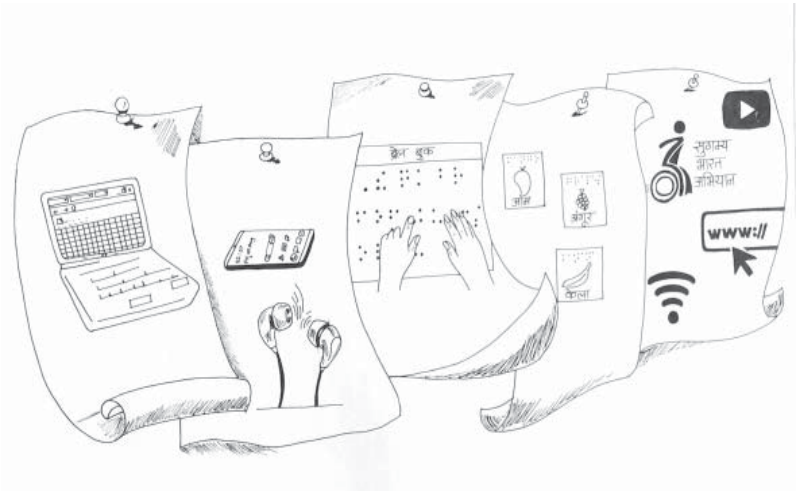

कम्प्यूटर चलाना भी सीखा था, सो वह भी चला सकती हूँ। मैं ब्रेल बुक्स, मोबाइल, इंटरनेट सुगम्य पुस्तकालय, यूट्यूब, वेब लिंक्स, विज़ुअल और नॉन-विज़ुअल टी.एल.एम. की सहायता से गतिविधियों के द्वारा बच्चों को पढ़ाती हूँ। मैं अपनी आँखों से कुछ देख तो नहीं सकती, मगर बच्चों की आँखों से देखकर ही मुझे सुकून मिल जाता है।

मैं मुझे बनाने वाले उस भगवान को धन्यवाद देती हूँ जिसने मेरी आँखों की रोशनी चले जाने पर भी हर जगह मेरी मदद के लिए दो आँखें भेज दीं।

तन के हिस्से में सिर्फ दो आँखें हैं,
मन की आँखें हज़ार होती हैं।
तन की आँखें तो सो भी जाती हैं,
मन की आँखें कभी न सोती हैं।
चाँद सूरज के जो हों खुद मोहताज,
भीख माँगो न उन उजालों की।
बन्द आँखों से ऐसे काम करो,
कि आँख खुल जाए आँखों वालों की।
हैं अँधेरे बहुत सितारे बनो,
डूबतों के लिए किनारे बनो।
हैं ज़माने में बेसहारा बहुत,
तुम सहारे न लो, सहारे बनो।

एकता चौरे: प्राथमिक शिक्षक, शासकीय जनजातीय बालक आश्रम शाला, होशंगाबाद। अँग्रेज़ी एवं हिन्दी में एम.ए.। बी.एड. स्पेशल।

सभी चित्र: शलाका गायकवाड: *एकलव्य* के आश्रमशाला विज्ञान प्रोजेक्ट, महाराष्ट्र में काम करने के बाद अब होशंगाबाद ज़िले के बाबई ब्लॉक में भाषा, गणित, विज्ञान और डिजिटल माध्यम से सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर काम कर रही हैं। बच्चों के साथ वक्त बिताना और उनसे जुड़े अनुभव लिखना पसन्द है। चित्रकारी और फोटोग्राफी में दिलचस्पी।

बातचीत और अवलोकन

शलाका गायकवाड

पिछले साल *एकलव्य* व डाइट, पचमढ़ी ने साथ मिलकर 'राह बनाते शिक्षक' कार्यक्रम का आयोजन किया था। यह एक किस्म का संवाद था। शिक्षक अपनी कक्षाओं में जो नवाचार करते हैं, बच्चों के सीखने का जिस तरह से अवलोकन करते हैं, समुदाय को साथ लेकर जिस तरह अपनी चुनौतियों का सामना करते हैं, उन सब अनुभवों को शिक्षक 'राह बनाते शिक्षक' कार्यक्रम में साझा करते हैं। इससे ब्लॉक एवं ज़िले के शिक्षकों को अपने साथियों के नवाचारों की जानकारी मिलती है और साथ ही, खुद भी कुछ करने की प्रेरणा मिलती है।

इसी सन्दर्भ में पिछले साल आयोजित 'राह बनाते शिक्षक' कार्यक्रम में होशंगाबाद की शिक्षिका सुश्री एकता चौरे ने - वे शिक्षिका किस तरह बनीं, किन चुनौतियों का सामना किया - इस सबके बारे में विस्तार से बताया। एकता जी अपनी स्कूली पढ़ाई के दौरान ही आँखों की रोशनी चली जाने की वजह से एक नई चुनौती का सामना कर रही थीं। उनका शिक्षिका बनने का सफर वाकई तारीफ के काबिल है।

संदर्भ पत्रिका ने उनके अनुभव को प्रकाशित करने का तय किया, विशेष तौर पर इसलिए भी क्योंकि शिक्षिका बनना तो एक चुनौती है ही, लेकिन विज़ुअली चैलेंज्ड होते हुए प्राइमरी या मिडिल कक्षा के बच्चों को पढ़ा पाना, बहुत-सी अलग तरह की चुनौतियाँ प्रस्तुत करता होगा। हमने सोचा, बेहतर होगा कि हम एकता जी के साथ थोड़ी बातचीत करके इस चुनौती और उनके पढ़ाने के तरीकों को समझने और सबके सामने रखने की कोशिश करें।

इस सिलसिले में उनकी सहमति से कक्षा अवलोकन किया और फिर इस बारे में बातचीत हुई।

जब हम एकता जी से मिलने उनके स्कूल (शासकीय जनजातीय बालक आश्रम शाला, होशंगाबाद) गए, उस समय वे कक्षा सातवीं को इंग्लिश का पाठ पढ़ा रही थीं।

कक्षा अवलोकन

कक्षा में लगभग 15 बच्चे होंगे। बैठक व्यवस्था की बात करूँ तो सभी बैंच की व्यवस्था 'C' आकार की थी। सम्भव है, इससे एकता मैडम कक्षा के अन्दर बिना किसी डर के घूम-

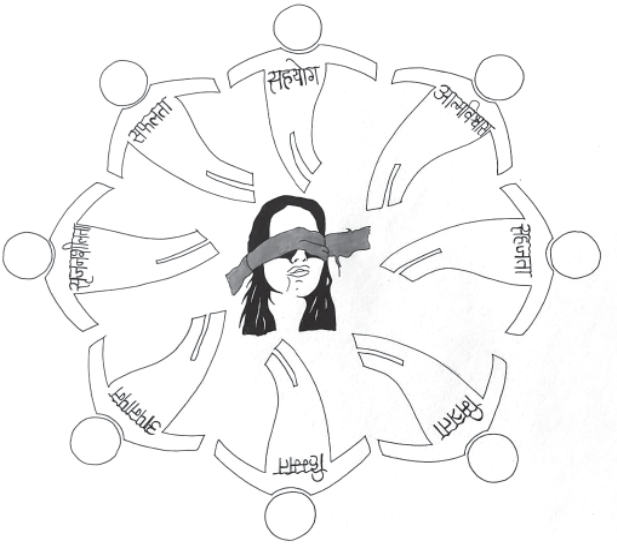

फिरकर कर पढ़ा पाती हों। 'The Wheat is Cheaper - II' पाठ चल रहा था। पाठ पढ़ाते समय मैडम एक-एक बच्चे को खड़ा करके उसकी कुछ पंक्तियाँ पढ़वा रही थीं। मैडम ने सभी बच्चों को पढ़ने का मौका दिया। बीच-बीच में जब बच्चों को कुछ शब्द पढ़ने में कठिनाई आ रही थी, तो मैडम उन्हें धीरे-धीरे उस शब्द को हिज्जे करके पढ़ने के लिए बोल रही थीं ताकि वे अक्षरों को सुनकर, उन्हें उस शब्द का उच्चारण सिखा सकें। उच्चारण के साथ-साथ वे बच्चों को कठिन शब्दों के अर्थ भी उदाहरण के साथ समझा रही थीं। जैसे, listen = सुनना, sore = छाला, poor = बेचारा, wonder = अचम्भित, kind = दयालु, owe = कर्ज़दार होना, wheat = गेंहू। कठिन शब्दों के साथ-साथ मैडम उस पूरे वाक्य को भी समझा रही थीं। जैसे - 'The horse has a sore on his back' मतलब घोड़े की पीठ पर घाव या छाला है। जैसे ही एक पैराग्राफ खत्म होता, मैडम बच्चों से कुछ सवाल पूछती हैं ताकि वे जान सकें कि बच्चे उस पैराग्राफ को कितना समझ पाए हैं। इस तरह कक्षा को पाठ पूरा समझाने के बाद पाठ के अन्त में दिए अभ्यास व शब्दावली तक पहुँच गईं।

पढ़ाने के दौरान मैडम ने श्यामपट्ट पर दिनांक, दिन और अध्याय का नाम भी लिखा था। श्यामपट्ट पर लिखने के लिए उन्होंने अपने दोनों हाथों से अनुमान लगाकर लिखा। मैडम को देखकर मुझे एक लोकोक्ति याद आई - 'अभ्यास मनुष्य

को पूर्ण बनाता है' जो एकता मैडम पर एकदम सही बैठती है। ऐसा इसलिए भी क्योंकि श्यामपट्ट पर लिखते समय मैडम के चेहरे पर कोई झिझक या डर मुझे नहीं दिखा। वे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ लिख रही थीं ताकि वे बच्चों को पढ़ाने में कहीं कम न पड़ जाएँ। यह सब बातें मैं उनसे हुई चर्चा और अपने अवलोकन के आधार पर साझा कर रही हूँ।

समझने के लिए बातचीत

कक्षा सातवीं को इंग्लिश का पाठ पढ़ाने के बाद हमने एकता मैडम से बातचीत कर यह जानना चाहा कि वे कक्षा में पढ़ाए जाने वाले पाठ की तैयारी कैसे करती हैं।

मैडम ने बताया कि स्मार्टफोन आने के पहले वे पाठ को किसी से पढ़वाकर उसे समझ लेती थीं और उसकी तैयारी करती थीं। स्मार्टफोन आने से काफी सुविधा हुई है। भारत शासन की सुगम्य पुस्तकालय की वेबसाइट पर एनसीईआरटी की सभी कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकें ऑडियो फाइल की शक्ल में उपलब्ध हैं। इन्हें सुना जा सकता है। इस वेबसाइट पर और भी किताबें उपलब्ध हैं। इसके अलावा यूट्यूब व विविध वेबसाइट से भी काफी मदद मिल जाती है।

एकता मैडम ने बताया कि वे ज़्यादातर मौखिक रूप में पढ़ाती हैं। एक अध्याय के बाद जो भी अभ्यास होते हैं जैसे शब्दकोष, पढ़ें और सीखें, प्रश्न और उत्तर आदि, वे उन्हें बच्चों से मौखिक रूप में हल करवाती हैं और फिर उन्हें लिखने के लिए बोलती हैं। बच्चों को जहाँ भी मुश्किल आती है, वे उन्हें मौखिक रूप में मदद करती हैं।

एकता जी बताती हैं कि बच्चे विविध अभ्यास के सवालों के जवाब अपनी नोटबुक में लिखते हैं। बच्चों ने सही लिखा है या नहीं, यह जानने के लिए कक्षा के एक-दो बच्चों से जवाब पढ़कर सुनाने के लिए कहती हैं। फिर उनके जवाब ठीक करवा देती हैं। ऐसे ही कुछ और बच्चों के जवाब सुनकर, उन्हें ठीक करवाने के बाद इन बच्चों को ज़िम्मेदारी देती हैं कि कक्षा में बाकी बच्चों के जवाबों की जाँच करके उन्हें दुरुस्त करवाएँ। अन्त में एक बार फिर सुनिश्चित कर लेती हैं कि कक्षा में सभी बच्चों ने सवाल का सही जवाब कॉपी में लिखा है या नहीं। जहाँ कहीं भी दिक्कत महसूस होती है, बिना झिझक सह-शिक्षकों की मदद लेती हैं, और उनके साथी सदैव मदद के लिए तत्पर रहते हैं। बच्चे भी काफी सहयोगी भावना वाले हैं इसलिए कक्षा में अनुशासन बना रहता है, बच्चे नियत समय पर अपना काम करते हैं। किसी प्रकार की सख्ती दिखाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

एकता मैडम कुछ पीरियड प्राइमरी कक्षाओं में भी लेती हैं। इन कक्षाओं में

बच्चे खुद से सारे अभ्यास कर सकें, ऐसे हालात नहीं होते। बच्चों को कई मौकों पर शिक्षक की ज़रूरत होती है। हमने यह जानना चाहा कि प्राइमरी कक्षाओं के लिए वे किस तरह तैयारी करती हैं।

एकता मैडम ने बताया, "मानव शरीर की समस्त इन्द्रियों में से मेरी दृष्टि नहीं होने के कारण मैं कुछ चीज़ों की कल्पना कर बच्चों को पढ़ाने में खुद को अक्षम पाती हूँ। मैं बच्चों के लिए अमूर्त चीज़ों को मूर्त रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाती और उसके पीछे की संकल्पना, विवरण और स्पष्टीकरण नहीं दे पाती। मैं इन सब मुद्दों को एक-दूसरे से जोड़कर काम करने के लिए खुद को चुनौतियों से घिरी हुई पाती हूँ।"

"प्राइमरी कक्षाओं के पाठ के ऑडियो सुनकर कुछ तैयारी तो हो जाती है। लेकिन विविध कविता, गीत, खेलगीत करके सबसे पहले बच्चों के साथ मित्रता साधनी होती है। एक बार बच्चों के साथ मित्रता हो जाए तो कक्षा में काम करना आसान हो जाता है। बच्चे भी मेरे साथ सहज हो जाते हैं। फिर पाठ पढ़ाते हुए टीएलएम का उपयोग करना भी सहज हो जाता है। मैंने कुछ शब्द-कार्ड और चित्र-शब्द कार्ड पर ब्रेल लिपि में कार्ड का नाम वगैरह लिख लिया है। इससे मेरे लिए कार्ड को बच्चों को दिखाना अथवा कार्ड पर लिखे शब्द या चित्र के साथ संगति बैठाना आसान हो जाता है।"

"प्राइमरी कक्षा में बच्चों के लिए ब्लैक बोर्ड का उपयोग भी ज़्यादा करना होता है। बच्चे शब्द समझ पाए हैं या सही लिख पा रहे हैं, यह जानने के लिए कई बार कुछ बच्चों

को अपने पास बुलाकर मेरी हथेली पर उँगली से लिखने के लिए कहती हूँ। इससे मुझे समझ आ जाता है कि बच्चा सही लिख पा रहा है या कहाँ गलती कर रहा है। मौखिक सवाल-जवाब करके भी बच्चे कहाँ तक समझ पाए हैं, कहाँ मदद की ज़रूरत है, यह एहसास बनता है।

"इसी तरह सह-शिक्षकों की मदद लेकर बच्चों की नोटबुक को भी चेक कर लेती हूँ।"

शालाओं में होने वाले नियमित आंकलन में भी एकता मैडम अपनी ओर से पूरी कोशिश करती हैं कि समय पर काम हो जाए। उन्होंने कम्प्यूटर एप्लिकेशन में पीजी डिप्लोमा की पढ़ाई की हुई है। वे शाला में रखे डेस्कटॉप आसानी-से चला लेती हैं। इसमें बनाई गईं आंकलन शीट्स में डाटा इनपुटिंग भी कर लेती हैं। इसी तरह कम्प्यूटर पर अंक-सूची और प्रोग्रेस रिपोर्ट में टिप्पणियाँ लिखना वगैरह भी आसानी-से कर लेती हैं।

बातचीत में एकता जी ने यह भी बताया कि सामान्य लोगों की तुलना में उन्हें कक्षा में गतिविधियों की तैयारी और उनके क्रियान्वयन के लिए अधिक समय लगता है। वे आगे कहती हैं, "ये तो रही कक्षा के अन्दर की बात, यदि मैं अन्य कार्यों की बात करूँ तो वहाँ भी मुझे अधिक समय लगता है। कभी-कभी मुझे अन्य साथियों की मदद लेने की ज़रूरत महसूस होती है।" मैडम आखिर में कहती हैं कि उन्होंने 'पराई आँखों से सफलता प्राप्त की है'। जीवन में परिवहन से लेकर बच्चों को पढ़ाने तक के लिए उन्हें मदद लेनी पड़ी है। इस बीच वे शारीरिक और मानसिक तनाव से गुज़री हैं लेकिन उन्होंने हिम्मत बिलकुल नहीं हारी और सबकी मदद से अपनी सफलता की ओर आगे बढ़ रही हैं।

एकता मैडम का कहना है, "इस शाला में अधीक्षक मैडम और सहकर्मी शिक्षकों का इतना सपोर्ट मिलता है कि मैं कभी भी अपने आप को अकेली महसूस नहीं करती। मैं सदैव सृजनशील बनी रहती हूँ। इसमें बड़ा योगदान मेरी शाला के बच्चों और सहकर्मी शिक्षकों का है।"

शलाका गायकवाड: *एकलव्य* के आश्रमशाला विज्ञान प्रोजेक्ट, महाराष्ट्र में काम करने के बाद अब होशंगाबाद ज़िले के बाबई ब्लॉक में भाषा, गणित, विज्ञान और डिजिटल माध्यम से सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर काम कर रही हैं। बच्चों के साथ वक्त बिताना और उनसे जुड़े अनुभव लिखना पसन्द है। चित्रकारी और फोटोग्राफी में दिलचस्पी।

सभी चित्र: शलाका गायकवाड।

यह लेख एकता मैडम से की गई बातचीत पर आधारित है।

आज ही ऑर्डर करें

मूल्य: ₹ 260.00

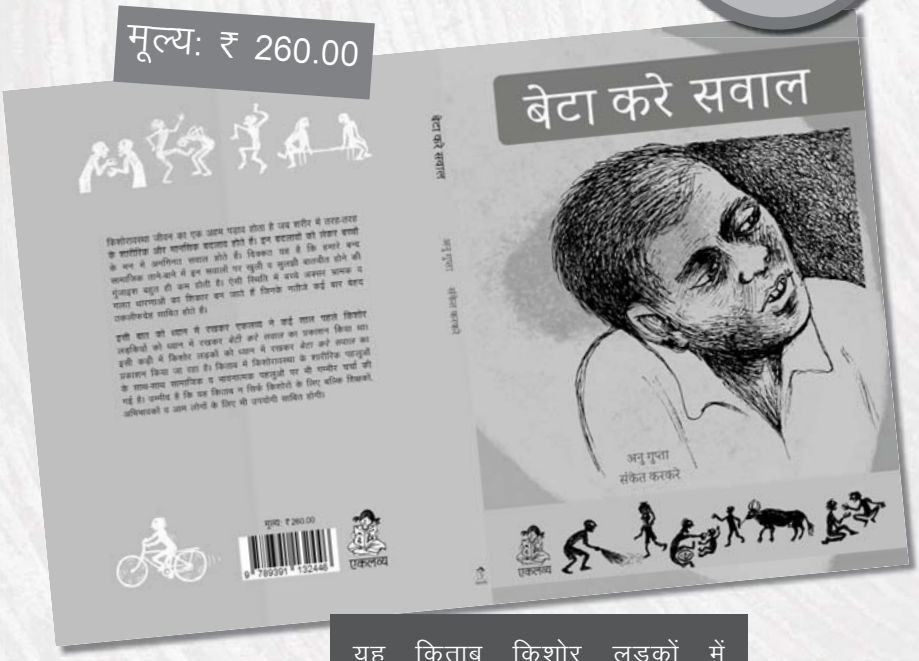

यह किताब किशोर लड़कों में किशोरावस्था के दौरान शारीरिक पहलुओं के साथ-साथ सामाजिक एवं भावनात्मक पहलुओं पर चर्चाओं और किशोरों के मन में उठने वाले सवालों के हल खोजने के लिए एक बेहतर ज़रिया हो सकती है। न सिर्फ किशोरों के लिए बल्कि शिक्षकों और अभिभावकों के लिए भी उपयोगी साबित हो सकती है।

ऑर्डर के लिए सम्पर्क करें-

फोन: +91 755 297 7770-71-72

वेबसाइट: www.eklavya.in; ईमेल: pitara@eklavya.in

ऑनलाइन ऑर्डर करने के लिए: www.eklavyabooks.in

एकलव्य

अपना भविष्य बदलने के लिए, हमें बच्चों को इतिहास पढ़ाने का अपना ढंग बदलना चाहिए

युवाल नोआ हरारी

हो सकता है कि हम वयस्क उन क्षति पहुँचाने वाले किस्सों को अपने दिमाग से न निकाल सकें जो हमें सुनाए जाते रहे हैं, लेकिन हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी उनके अभियान को तो रोक ही सकते हैं।

हम बच्चों को इतिहास से नहीं बचा सकते। युक्रेन में लाखों परिवारों ने व्लादीमीर पुतिन के युद्ध में अपने घर गँवा दिए हैं। दिल्ली में इस गर्मी में 50 डिग्री के रिकॉर्ड-तोड़ तापमान ने बच्चों को घरों के अन्दर बन्द कर दिया था; वे पढ़ने या खेलने की स्थिति में नहीं रह गए थे। भोजन की कीमतें वैश्विक स्तर पर आसमान छू रही हैं, जिसकी वजह से दुनिया भर के बच्चे भूख से पीड़ित हैं। इसलिए निश्चय ही अब यह अपरिहार्य है कि अगली पीढ़ी इस बड़े सवाल का सामना करना चाहती है : युद्ध क्यों हो रहे हैं? प्रकृति में हमारी जगह क्या है? पैसा क्या है और वह इतना ज़्यादा महत्वपूर्ण क्यों है?

अक्सर, बच्चे इन सवालों को वयस्कों के मुकाबले ज़्यादा गम्भीरता से लेते हैं। वे उन चीज़ों पर सवाल

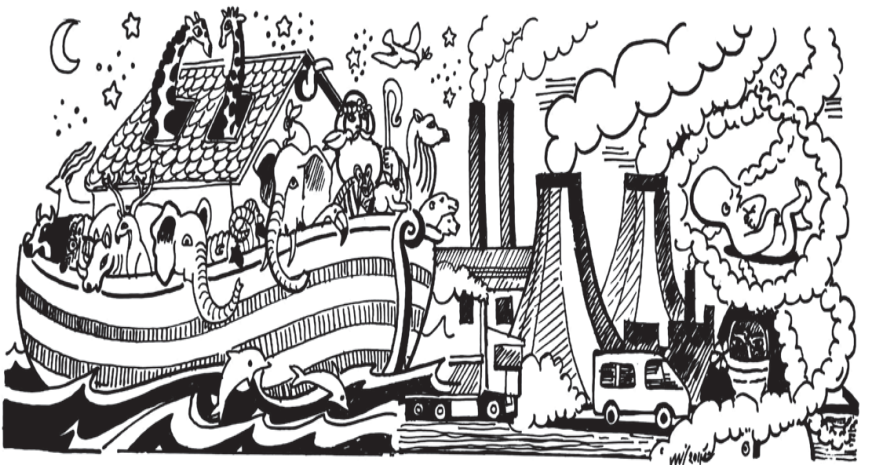

उठाते हैं जिन्हें वयस्क बहुत तरजीह नहीं देते। जब कोई बच्चा हमारे हर जवाब पर "क्यों?" कहता है, तो मुमकिन है कि वयस्कों को इस बात से खीझ होती हो। लेकिन सामान्यत: वह बच्चा कुछ इस तरह चीज़ों की तह में जाने की कोशिश कर रहा होता है जैसा वयस्क काफी पहले बन्द कर चुके हैं।

इतिहास के मिथकों के समक्ष बच्चे

जिस एक अन्य चीज़ से हम बच्चों की हिफाज़त नहीं कर सकते, वह है झूठे ऐतिहासिक आख्यानों से बच्चों का सामना। बच्चों पर बहुत कम उम्र से ही मिथकों और झूठी जानकारियों का हमला होने लगता है, सिर्फ ताज़ा घटनाओं के बारे में ही नहीं, बल्कि स्वयं मानवता के बुनियादी कथानक के बारे में – हम कौन हैं, हम कहाँ से आए हैं और हम यहाँ कैसे पहुँचे।

उदाहरण के लिए, मेरे अपने देश इज़रायल में, सेक्युलर स्कूलों के बच्चे तक, निएंडरथल्स[1] के बारे में जानने से या लासकॉक्स और सुलावेसी[2] के गुफा-चित्रों को देखने से बहुत पहले, आम तौर से 'गार्डन ऑफ ईडन' के बारे में पढ़ लेते हैं और नोआ की नौका की रंगीन तस्वीरें देख लेते हैं। इसका एक प्रभाव पड़ता है। जैनेसिस के आदेश "धरती को भर दो और उसे अपने अधीन कर लो" से लेकर औद्योगिक क्रान्ति और आज के पारिस्थितिक संकट तक एक सीधी रेखा खींची जा सकती है। प्रभाव की ऐसी एक और सीधी रेखा रूस के बच्चों द्वारा पढ़े जा रहे ऐतिहासिक आख्यानों से लेकर युक्रेन पर पुतिन के हमले और उसके नतीजे में पैदा हुए खाद्यान्न के वैश्विक संकट तक खींची जा सकती है।

अगर हम बच्चों को मिथकों के भरोसे छोड़ देते हैं, तो बाद के जीवन में इन धारणाओं को दिमाग से निकालना मुश्किल, और कभी-कभी असम्भव काम हो जाता है। यह बहुत ज़रूरी है कि हम बच्चों के साथ बड़े मुद्दों पर कट्टर आस्थाओं की बजाय साक्ष्यों पर आधारित वैज्ञानिक और ज़िम्मेदाराना तरीके से खुलकर बात करें। यह वह चुनौती है जिससे मैं खुद भी बच्चों के लिए दुनिया का इतिहास लिखते समय जूझता रहा हूँ।

बच्चों के लिए इतिहास लिखना

इस लेखन से मुझे यह सीख मिली है कि बच्चों के लिए बड़े मुद्दों पर बात करना बड़ा ही नाज़ुक काम है। कुछ विषय ऐसे हैं जो मज़ेदार हैं, जैसे कि पाषाण युग के शिकारी

[1] *निएंडरथल के बारे में और जानने के लिए पढ़िए संदर्भ का अंक 141 (जुलाई-अगस्त, 2022) व 142 (सितम्बर-अक्टूबर, 2022)।*

[2] *लासकॉक्स फ्रांस और सुलावेसी इंडोनेशिया की गुफाएँ हैं जहाँ पुरापाषाण काल के गुफा-चित्र पाए गए हैं।*

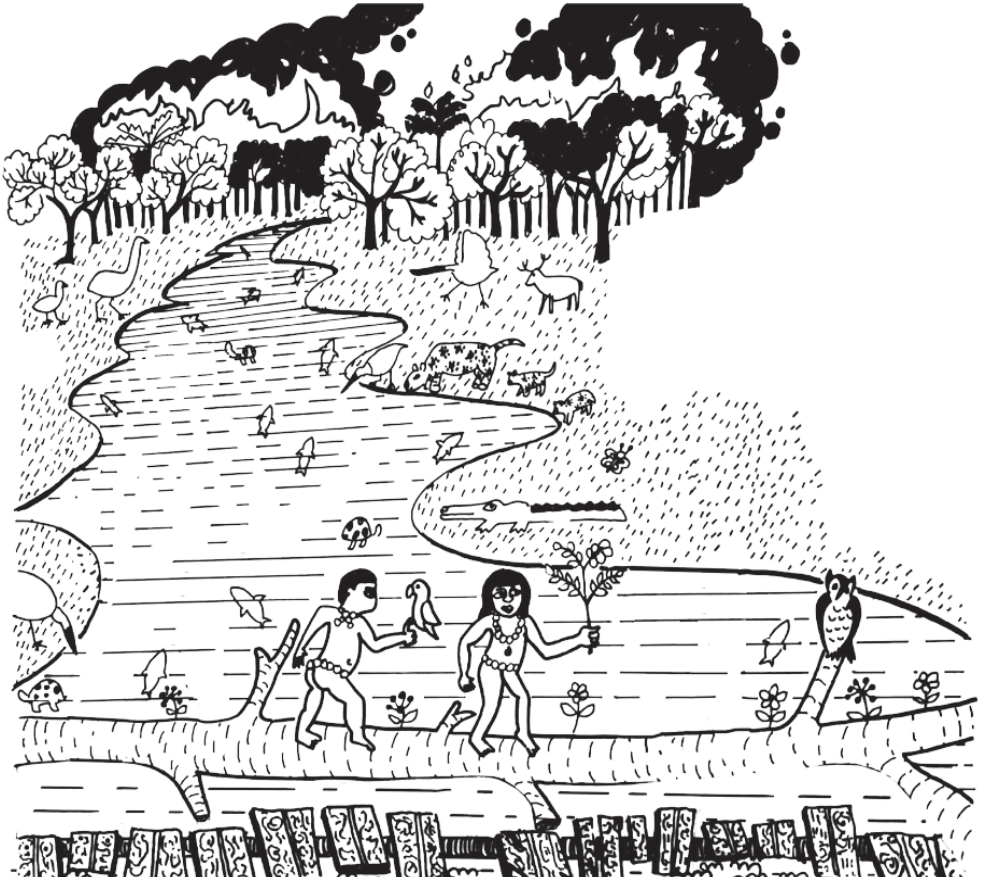

संग्रहकर्ताओं के उस रोज़मर्रा जीवन के बारे में खोजबीन करना, जब लोग जंगलों में रहते थे और बच्चे पेड़ों पर चढ़ना, जानवरों को खोजना और आग जलाना सीखते हुए अपना दिन गुज़ारते थे। लेकिन दूसरे विषय ज़्यादा चुनौतीपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम इस बात की जाँच करने बैठते हैं कि जब सेपियन्स निएंडरथल्स से मिले तब क्या हुआ, तो हमें इस तरह की चीज़ों पर चर्चा करनी पड़ती है कि जब किसी बच्चे की माँ सेपियन्स और पिता निएंडरथल रहा होगा तब उस बच्चे का जीवन किस तरह का रहा होगा। यह चर्चा नस्लवाद, युद्ध, सामूहिक जनसंहार और प्रजातियों के लुप्त होने जैसे मसलों की ओर ले जाती है।

इतिहास के इन स्याह पक्षों के बारे में बात करना बहुत ज़रूरी है, लेकिन इन सब बातों को सुनकर बच्चे आतंक के शिकार न हो जाएँ, यह कैसे सुनिश्चित किया जाए? इसका एक मार्गदर्शी सिद्धान्त तो यह है कि हम आतंक के स्पष्ट वर्णनों के लिए तब तक इन्तज़ार करें जब तक कि श्रोता इतना परिपक्व न हो जाए कि वह उसको ठीक से पचा सके। इसकी बजाय, आपदाओं और अन्यायों की चर्चा करते समय सबसे अच्छा है कि कर्तृत्व (agency) पर बल दिया जाए : स्थितियाँ कितनी ही भयावह क्यों न हों, लोग बेहतर स्थिति के लिए आम तौर पर बदलाव लाते हैं। यह इच्छित चिन्तन नहीं है, बल्कि इतिहास का सार है। आखिरकार, इतिहास अतीत का अध्ययन, या महज़ युद्धों और तबाहियों और उन मृत राजाओं की फेहरिस्त नहीं है जो हज़ारों साल पहले राज किया करते थे। इतिहास इस बात का अध्ययन है कि स्थितियाँ किस तरह बदलती हैं।

इतिहास की ताकत

अगर हम सोचते हैं कि दुनिया हमेशा से एक-जैसी रही है, और आज हम जिस तरह रहते हैं वही इन्सानों के रहने का ढंग है, तो ऐसा लगना स्वाभाविक है कि परिवर्तन असम्भव है और जिन समस्याओं का सामना हम कर रहे हैं, उनके कोई समाधान नहीं हैं। अगर हालात बहुत अन्यायपूर्ण भी हैं, तो हम क्या कर सकते हैं? दुनिया ऐसी ही है, हम खुद से कहते हैं। लेकिन इतिहास का अध्ययन करते हुए हमें पता चलता है कि इन्सान हमेशा से उसी तरह नहीं रहते आए थे जैसे हम रहते हैं, और दुनिया हर समय बदलती रही है, बदल रही है। दुनिया जैसी है, वैसा उसे लोगों ने बनाया है – और इसीलिए लोग उसे बदल सकते हैं। बेशक, यह कोई आसान काम नहीं है, लेकिन यह पहले कई-कई बार किया जा चुका है।

यही वजह है कि इतिहास इतना शक्तिशाली है। वह दुनिया को बदलने की कुंजी है। इस कदर कि कई जगहों पर सरकारें इतिहास से डरती हैं। नेतागण शायद ही कभी लोगों को गणित या भैतिकी पढ़ने पर रोक लगाते हैं। लेकिन बहुत-सी सरकारें लोगों को – और विशेष रूप से नौजवानों को – इतिहास के कम-से-कम कुछ हिस्से पढ़ने से रोकती हैं। यह सब उन पुराने राजाओं के ज़माने से जारी रहा है जिन्होंने हज़ारों साल पहले राज किया था, उनके बर्फीले हाथ कब्रों से बाहर आकर हमारे दिमागों को जकड़ते हैं और परिवर्तन पर रोक लगा देते हैं।

आखिरकार, यह बहुत पहले मर चुके वही राजा थे जिन्होंने देवताओं, राष्ट्रों, पैसा और प्रेम के बारे में विभिन्न किस्म के किस्से गढ़े थे और उनका प्रचार-प्रसार किया था, जिनमें आज

भी बहुत-से लोग विश्वास करते हैं और उनसे चिपके रहते हैं। इन आख्यानों से कुछ आज़ादी हासिल करने के लिए और भिन्न तरह से आचरण करने के लिए हमें यह समझना ज़रूरी है कि वे किस्से किस तरह गढ़े और प्रचारित-प्रसारित किए गए थे। अगर हम यह नहीं करेंगे तो उनकी इस असलियत को कभी नहीं समझ पाएँगे कि वे महज़ किस्से हैं। बच्चों के द्वारा 'क्यों?' पूछा जाना वह सशक्त बल है जो इन पुराने किस्सों की नींव हिला सकता है।

अपना बोझ बच्चों पर ढोना?

लेकिन आतंक को टालने के अलावा, हमें इस बात को लेकर भी सावधान रहना चाहिए कि हम बच्चों पर अपनी ज़िम्मेदारियों का बोझ डालने से बचें। बच्चों से यह अपेक्षा करना कि वे हमारी योजनाओं पर अमल करें, और खास तौर से यह कि वे उन समस्याओं को हल करें जिन्हें हम हल करना चाहते हैं, वयस्कों की नियम-पुस्तिका का सबसे पुराना पाप है। बच्चों से बड़े मुद्दों पर बात करते समय, हमें जब-तब खुद से यह पूछते रहना चाहिए कि हम वैसा क्यों कर रहे हैं।

दुनिया का हर व्यक्ति एक भारी बोझ उठाए हुए है। जब हम नौजवानों को इतिहास पढ़ाते हैं, तो कभी-कभी हम अपना बोझ अगली पीढ़ी के कन्धों पर डालने के लिए वैसा करते हैं। हम चाहते हैं कि युवा लोग उन विश्वासों, स्मृतियों, पहचानों और टकरावों को ढोएँ जिनका बोझ हम अपनी पूरी ज़िन्दगी ढोते रहे हैं।

"देखो, बच्चो, यहाँ तक इन चीज़ों को मैं ढोता रहा हूँ – अब तुम्हारी बारी है!"

यह नाजायज़ है। इतिहास पढ़ाने की एक बेहतर वजह बच्चों को कम-से-कम उनके कुछ डरों, भ्रमों और नफरतों से मुक्त करना है। "इन चीज़ों को देख रहे हो, बच्चे? मैं इनमें वर्षों से फँसा रहा हूँ और इन्होंने मुझे दयनीय हालत में ला छोड़ा है। ध्यान रहे, तुम भी इनमें मत उलझ जाना!"

मुक्ति

मैं उम्मीद करता हूँ कि इतिहास लोगों को बन्धन में डालने की बजाय उन्हें मुक्त करने का साधन बनेगा। ऐसा साधन जो पुराने टकरावों को चिरस्थायी बनाए रखने की बजाय नए सामंजस्यों को गढ़ने में मदद करे। आखिर, इतिहास पढ़ने की सार्थकता अतीत को याद करने में नहीं है, बल्कि उससे मुक्ति पाने में है।

युवाल नोआ हरारी: ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से इतिहास में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है और अब विश्व इतिहास में विशेषज्ञता हासिल करने के बाद वे हिब्रू विश्वविद्यालय, येरुस्लम में अध्यापन करते हैं। उनकी दो पुस्तकें *सेपियन्स: अ ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ ह्यूमनकाइंड* और *होमो डेयस: अ ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ टुमॉरो* अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हो चुकी हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: मदन सोनी: आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय वरिष्ठ हिन्दी लेखक व अनुवादक। इनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। इन्होंने उम्बर्तो एको के उपन्यास *द नेम ऑफ दि रोज़*, डैन ब्राउन के उपन्यास *दि द विंची कोड* और युवाल नोआ हरारी की किताब *सेपियन्स: अ ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ ह्यूमनकाइंड* समेत अनेक पुस्तकों के अनुवाद किए हैं।

सभी चित्र: शैलेश गुप्ता: आर्किटेक्ट और चित्रकार जो आज भी बचपन को संजोए रखना चाहते हैं। एमआईटीएस, ग्वालियर से आर्किटेक्चर की पढ़ाई। कहानियाँ सुनने और सुनाने का शौक है। भोपाल में रहते हैं।

यह लेख *द गार्डीयन* पत्रिका के अंक - 18 अक्टूबर, 2022 से साभार।

कबाड़ से जुगाड़: विज्ञान पढ़ाने का सबसे सरल तरीका!

अरविन्द गुप्ता के साथ बातचीत

आम तौर पर अरविन्द गुप्ता कुर्ता-पाजामा पहने रोज़मर्रा की चीज़ों को खिलौनों में तब्दील करते दिखाई देते हैं। विज्ञान को लोकप्रिय बनाना, उनके जीवन का सबसे पहला ध्येय है। यू-ट्यूब पर मौजूद विभिन्न वीडियो तथा उनकी बहुत सारी किताबों के ज़रिए दुनिया के कोने-कोने में उनका सन्देश पहुँच रहा है। आज हम शिक्षा के क्षेत्र में उनकी इसी यात्रा के बारे में बात करेंगे। हम उनसे पूछेंगे कि कैसे उन्होंने माचिस की तीलियों से अपने मशहूर खिलौने बनाए और वह क्या शय है जो उन्हें इस दिलचस्प काम को जारी रखने के लिए हौसला और प्रेरणा देती है।

? **विवेक वेलांकी:** सबसे पहले तो विज्ञान, शिक्षा और अध्यापन के क्षेत्र में आपके सफर से ही बात शुरू करते हैं। सत्तर के दशक में आपने आईआईटी कानपुर में दाखिला लिया। वहाँ से यह सिलसिला किस तरह शुरू हुआ था?

अरविन्द गुप्ता: आईआईटी कानपुर में मैं उत्तर प्रदेश के एक बहुत छोटे-से कस्बे बरेली से आया था। मेरे माँ-बाप तो कभी स्कूल गए नहीं थे। यों तो मेरी माँ बेहद शिक्षित परिवार से थीं मगर लड़की होने की वजह से वे कभी स्कूल नहीं जा पाईं, हालाँकि उनके भाइयों को काफी आला दर्जे की तालीम मिली थी। हमारा समाज औरतों के साथ बहुत ज़्यादा भेदभाव करता है। लिहाज़ा, शिक्षा के महत्व को मेरी माँ से बेहतर भला और कौन समझ सकता था! इसीलिए उन्होंने अपने सारे बच्चों को बढ़िया-से-बढ़िया स्कूलों में पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी। 1970 में मैंने सरकारी इंटर कॉलेज से बारहवीं का इम्तिहान दिया था। इम्तिहान का नतीजा अच्छा रहा। मैं पूरे ज़िले में अव्वल आया और आईआईटी कानपुर में मेरा दाखिला हो गया। मेरे लिए एक नई दुनिया का दरवाज़ा खुल गया था।

एक छोटे-से कस्बे में पले-बढ़े लड़के के लिए यह एक विश्वस्तरीय संस्थान था। यहाँ की लाइब्रेरी सुबह 8 बजे से रात 2 बजे तक खुली रहती थी। लाइब्रेरी से हम लोग एक साथ 10 किताबें ले सकते थे। वहाँ एक शानदार कम्प्यूटर सेंटर था। संगी-साथी और अध्यापक, सबमें एक लगन थी। ज़्यादातर अध्यापक अमेरिका से पढ़कर आए थे। लब्बो-लुआब यह कि एक छोटे-से कस्बे के लड़के की आँखों के सामने एक बिलकुल नई और अवसरों से भरपूर, चुनौतीपूर्ण दुनिया खुलती जा रही थी। मैं इससे पहले एक कॉन्वेंट स्कूल में पढ़ा था। यहाँ आईआईटी कानपुर में इसके अन्तर्विरोध साफ दिखाई दे रहे थे। इस इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना में अमेरिकी सरकार ने 200 करोड़ का योगदान दिया था। यहाँ दो मुख्य स्कूल थे – अपॉरच्युनिटी स्कूल और केन्द्रीय विद्यालय। मैस कर्मचारियों या मालियों के बच्चों को इनमें से किसी भी स्कूल में दाखिला नहीं मिलता था।

इन हालातों को देखकर हममें से कुछ विद्यार्थियों ने 'सहयोग' नाम से एक संस्था बनाई थी। हम छात्रावास के हर कमरे में जाकर पाँच-पाँच रुपए इकट्ठा करते थे ताकि इन बच्चों को स्कूल भेज सकें। बहुत सारे तो हमें देखते ही दरवाज़ा बन्द कर लेते थे, मगर कुछ काफी दरिया-दिल थे और पैसा देकर हमारी मदद करते थे। हममें से छह लोग इन स्कूलों में पढ़ाने के लिए तैयार हो गए और हममें से हर छात्र हफ्ते में एक दिन अपनी कक्षाएँ छोड़ने लगा था। यह शिक्षा की दुनिया में मेरा पहला अनुभव था। एक अच्छा संस्थान अपने ढंग से आपकी रूह में उतर जाता है और आपको पता भी नहीं चलता। मेरे खयाल में यही इस संस्थान की खासियत थी। आपको सिर्फ अव्वल दर्जे की तकनीकी सामग्री ही पढ़ने को नहीं मिलती बल्कि आप एक नई दुनिया से रूबरू हो जाते हैं। पूरी दुनिया से! इंजीनियरिंग में कितना कुछ है, यह तब पता चलता है! यह पाँच-साला इंजीनियरिंग कोर्स था और पहले आठ सेमेस्टर के दौरान हमें समाज-

विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विकास और पिछड़ेपन पर भी पाठ्यक्रम और पाठ्यसामग्री से गुज़रना होता था, इसलिए मेरा खयाल है कि आप एकायामी व्यक्ति की जगह समस्याओं को अलग-अलग कोणों से तथा ज़्यादा समावेशी ढंग से देखना सीख जाते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** आपने कबाड़ से खिलौने बनाने के बारे में काफी कुछ लिखा है। आपकी मशहूर किताब 'मैचस्टिक मॉडल एण्ड अदर साईंस एक्सपेरिमेंट्स' का कई भाषाओं में कई बार प्रकाशन हो चुका है। मॉडल बनाने के लिए माचिस की तीलियों और वॉल्व ट्यूब का इस्तेमाल न केवल दिलचस्प है बल्कि बेइन्तहा सम्भावनाओं का रास्ता भी खोलता है। क्या आप बताएँगे कि आपको यह खयाल कैसे आया और इस रास्ते पर चलकर बच्चों ने किस-किस तरह के दिलचस्प डिज़ाइन बनाए हैं?

अरविन्द गुप्ता: 1972 में डॉ. अनिल सद्गोपाल को आईआईटी कानपुर में एक गेस्ट लेक्चरर की हैसियत से बुलाया गया था। एक तरफ मैं था जो क्लास की सबसे पिछली बैंचों पर बैठा रहता था और दूसरी तरफ हमारे सामने एक ऐसा शख्स था जो केलिफॉर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी से पीएच.डी. करके आया था। डॉ. सद्गोपाल मॉलिक्यूलर बायोलॉजिस्ट थे और टीआईएफआर जैसे आला संस्थानों में काम कर चुके थे। वे रॉयल सोसायटी के फैलो उबेद सिद्दीकी के सहकर्मी रह चुके थे और भारत में विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू करने के लिए अपनी नौकरी छोड़कर आए थे। उनकी सारी चिन्ता इस बात को लेकर थी कि हमारे ज़्यादातर गाँवों में विज्ञान की कोई प्रयोगशाला नहीं होती। हमारे बच्चे परिभाषाओं, सूत्रों को रटते चले जाते हैं और इम्तिहान में उन्हीं को उड़ेलकर लौट आते हैं। ये बच्चे कभी अपने हाथ खराब नहीं करते, और डॉ. सद्गोपाल के हिसाब से यह विज्ञान के प्रति बहुत ही बेरहमी वाला ढंग है।

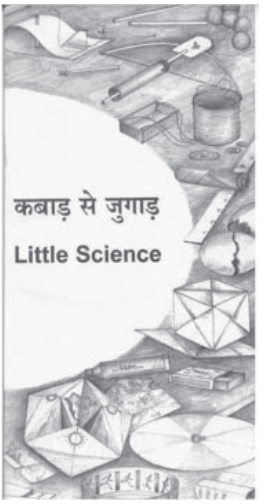

1975 में मैंने इंजीनियरिंग की डिग्री हासिल की और टाटा मोटर्स में मुलाज़मत ले ली। मैं ऊपर से नीचे तक हरे कपड़े पहने वेल्डिंग करता था या किसी खराब मशीन पर जुटा रहता था। दो साल होते-होते मुझे यह एहसास कचोटने लगा था कि मैं ट्रक बनाने के लिए पैदा नहीं हुआ हूँ!

अक्सर आपको यह इल्म नहीं होता कि आप अपनी ज़िन्दगी में क्या करना चाहते हैं मगर यदि आप यही जान जाएँ कि आप क्या नहीं करना चाहते हैं तो भी गनीमत है। मुझे अनिल सद्गोपाल का वह लेक्चर फिर याद आने लगा और मैं बोरिया-बिस्तर लपेटकर एक महीने के लिए 'किशोर भारती' की तरफ रवाना हो गया। कुछ दिनों बाद मैंने कम्पनी से साल भर की छुट्टी ले ली। यह एक साल मैंने एक बहुत ही साधारण और गरीब गाँव में बिताया। यहाँ सिर्फ एक साप्ताहिक हाट लगता था। लोग सड़क किनारे अपना सामान फैलाकर बैठ जाते थे और दुकान जम जाती थी। मुझे अन्दाज़ा था कि मैं यहाँ साल-डेढ़ साल रहने वाला हूँ इसलिए मैं इस हाट में आने-जाने लगा। मैं वहाँ से तरह-तरह की फालतू चीज़ें खरीद लाता। काँच के टुकड़े, चूड़ियाँ, छोटी-बड़ी डिब्बियाँ और न जाने क्या-क्या! एक दिन मैं अपनी साइकिल में हवा भर रहा था तो मुझे दुकान पर साइकिल की वॉल्व-ट्यूब भी लटकी दिखाई दे गई। यह 10 पैसे प्रति फुट की कीमत पर मुहैया थी और मैंने 10 फुट ट्यूब खरीद ली।

मुझे तरह-तरह की चीज़ें आकर्षित करती हैं। पहले ही महीने में मैं माचिस की तीलियों से प्रयोग करने लगा था। एक दिन यूँ ही करते-करते बड़ी मुश्किल से माचिस की एक तीली साइकिल वॉल्व की ट्यूब में चली गई। दूसरी तरफ से मैंने एक स्प्रिंग डाल दी ताकि यह एक लचीला जोड़ बन जाए। यह एक नए सिलसिले की शुरुआत थी। पहले महीने के दौरान मैं बहुत सारी दो-आयामी आकृतियाँ बनाता रहा। आप त्रिकोण, आयत, अष्टकोण, पंचकोण, तरह-तरह की आकृतियाँ बना सकते थे। फिर आप छेद करके तीन भुजाओं का जोड़ बना सकते थे, उसमें से दो तीलियों को आर-पार निकालकर चार का जोड़, छह का जोड़ बना सकते थे, आप तरह-तरह की त्रि-आयामी आकृतियाँ बना सकते थे और यह सब कुछ ऐसी चीज़ों से हो रहा था जो निहायत लोकल थीं।

अगर आपके पास माचिस की तीली नहीं है तो आप घर पर आग नहीं जला सकते। अगर छह लाख से ज़्यादा गाँवों में कोई एक मशीनी चीज़ ज़रूर मौजूद है तो वो साइकिल ही है। यानी ये दोनों चीज़ें (साइकिल की वॉल्व-ट्यूब और माचिस की तीली) बिलकुल स्थानीय चीज़ें थीं और यही वह मशहूर मैचस्टिक मिकेनो था। 1985 में मैंने अपनी पहली किताब लिखी जिसको लोगों ने हाथों-हाथ लिया और वह जल्दी ही 12 भाषाओं में प्रकाशित हुई। यह किताब हिट हुई क्योंकि इसमें कुछ नई बात थी। इसमें सिर्फ यहाँ-वहाँ से चीज़ें उठाकर नहीं डाल दी गई थीं। यह एक ऐसी चीज़ थी जो खालिस हमारी अपनी दुनिया से उपजी थी – और इसकी कुल जमा कहानी बस इतनी ही थी।

? **विवेक वेलांकी:** अब आपको लोग टॉयमेकर, खिलौना आविष्कारक और कचरे से खिलौने बनाने वाला जीनियस कहने लगे हैं। आपने विज्ञान को परम्परागत प्रयोगशाला से बाहर ला दिया है, उसे दैनिक चीज़ों से जोड़ दिया है। आपके हिसाब से यह बात इतनी अहम क्यों है? क्या इससे हमारे स्कूलों में विज्ञान के प्रति हमारे रवैये में भी बदलाव आ सकते हैं?

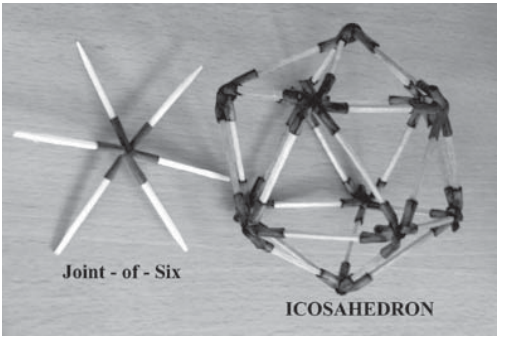

अरविन्द गुप्ता: देखिए, मैं भारत के कमोबेश 2500 स्कूलों में जा चुका हूँ और 30 मुल्कों में काम कर चुका हूँ। मैं जिस भी स्कूल में जाता हूँ, वहाँ मैं विज्ञान की प्रयोगशाला ज़रूर देखना चाहता हूँ क्योंकि मेरा इस विषय से लगाव ही कुछ ऐसा है। हर स्कूल, चाहे नगरपालिका का स्कूल हो, ग्रामीण स्कूल हो, अव्वल दर्जे का अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल हो - चाहे कोई भी स्कूल हो - वहाँ आपको ब्यूरेट (माप नलिका) और पीपेट तो मिलेंगे ही और अगर आपके पास एक पैनी नज़र है तो आप इन सारे उपकरणों पर धूल की परत भी साफ देख सकते हैं। ये सारी चीज़ें स्कूल इंस्पेक्टरों को प्रभावित करने के मकसद से मँगाई जाती हैं न कि बच्चों को पढ़ाने के मकसद से। यह बड़ी शर्मिन्दगी की बात है।

पाठ्यचर्याएँ अक्सर बेहद राजनीतिक और संकुचित होती हैं। जीवन इससे कहीं ज़्यादा व्यापक होता है। स्कूल में आने से पहले ही बच्चा बेहिसाब विज्ञान कर चुका होता है। मगर स्कूल के पास यह जानने का कोई तरीका नहीं होता कि बच्चे ने अब तक क्या कुछ किया है। और यह जाने बिना ही हम उसे एक उबाऊ पाठ्यचर्या में धकेल देते हैं। हम हर बच्चे पर बना-बनाया मुलम्मा चढ़ाने लगते हैं जबकि बच्चा खाना बनाने के खेल में, आने-जाने में, पैदल चलने में, समाज के साथ जुड़ने में कितने सारे विज्ञान से गुज़र चुका होता है। आपने नल खोला और पानी बहने लगा, इस छोटी-सी क्रिया में कितना सारा विज्ञान छिपा हुआ है - पानी कहाँ से आया, यह क्यों बहता है, है कि नहीं!

बिना किसी के कहे, बच्चे हर वक्त विज्ञान से ही जूझते रहते हैं। पहले हम सोचते थे कि अगर हम विज्ञान को कक्षा की इस शुष्क, उबाऊ चार-दीवारी

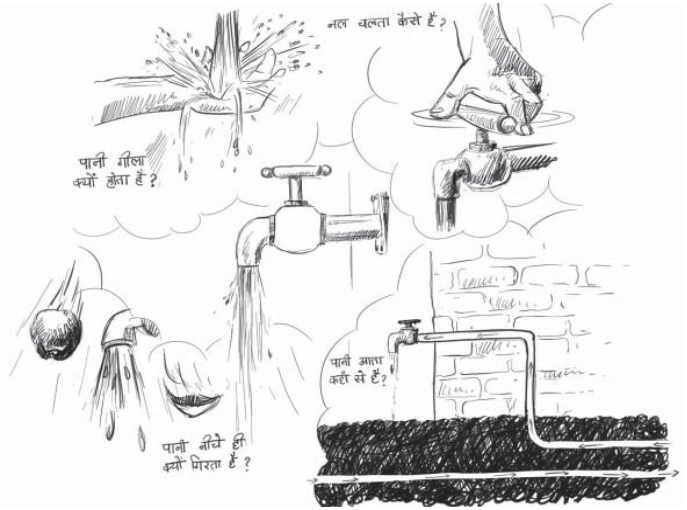

से निकाल लें और उसे बच्चों के हाथों में सौंप दें जहाँ माचिस की खाली डिब्बियाँ या रिफिल पेन, अखबार, साइकिल की ट्यूब यानी रोज़मर्रा इस्तेमाल की चीज़ें विज्ञान के प्रयोगों का विषय बन जाती हैं, तो बच्चे काफी कुछ ज़्यादा अच्छी तरह सीख पाएँगे।

? **विवेक वेलांकी:** आप विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में लगे हुए हैं और आपने इस दिशा में काफी काम किया है। आपने बहुत सारी किताबें लिखी हैं और वीडियो बनाए हैं। इन सबसे पहले जो सवाल उठता है, वह यह है कि विज्ञान को लोकप्रिय बनाना क्यों महत्वपूर्ण है?

अरविन्द गुप्ता: देखिए, हम एक लोकतांत्रिक समाज में रहते हैं। हम किसी निरंकुशवादी राज्य के नागरिक नहीं हैं। एक लोकतांत्रिक समाज में विज्ञान का फल समाज के सबसे हाशियाई तबकों तक, समाज के सबसे गरीब तबकों तक भी पहुँचना चाहिए। मैं सिर्फ विज्ञान का ही हिमायती नहीं हूँ। यह कितना ही अच्छा होगा अगर और ज़्यादा बच्चे कविताएँ लिखने लगें, कला रचने लगें, भव्य कहानियाँ लिखने लगें, विज्ञान का अध्ययन करने लगें... विज्ञान कोई भगवान की गाय नहीं है, सभी विषय समान महत्व के हैं। विज्ञान ने परमाणु बम या हाइड्रोजन बम भी बनाए हैं और यह बड़े शर्म की बात है। आज दुनिया का आधे से ज़्यादा शोध युद्ध अनुसन्धानों पर केन्द्रित है। इस बिन्दु पर हमें विज्ञान पर सवाल उठाना होगा। मगर दूसरी

तरफ विज्ञान ने ही हमें बहुत सारे दैनिक मसलों के हल भी मुहैया कराए हैं। मान लीजिए कि हमारे पास पानी का एक पम्प है और पूरे ग्रामीण भारत में पानी का पम्प ही पीने का पानी हासिल करने का सबसे सुरक्षित ज़रिया हैं, क्योंकि अगर आप खुले जल स्रोतों से पानी लेंगे तो ये प्रदूषित हो सकते हैं मगर यदि पानी सतह के 200 फुट नीचे से निकाला जा रहा है तो वह तुलनात्मक रूप से साफ होगा और उसे पीने में ज़्यादा खतरा नहीं है। लिहाज़ा, हरेक को समझना चाहिए कि पम्प कैसे काम करता है। एक किताब है 'पम्प्स फ्रॉम दि डम्प' और हमारी वेबसाइट पर 30 पम्प दिखाए गए हैं। हमारे पास हर रोज़ दुनियाभर से अध्यापकों के खतों की बाढ़ आती रहती है। इनमें अमेरिकी अध्यापकों के पत्र भी शामिल हैं। वे कहते हैं कि पहली बार उनके बच्चे वास्तव के इन पम्पों को बनाकर यह सीख पाए हैं कि पम्प कैसे काम करते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** अपने लेखन में आपने अक्सर इस बात का संकेत दिया है कि मौजूदा स्कूली व्यवस्था, हमारी पाठ्यपुस्तकें और पढ़ाने के तौर-तरीके इस तरह की सोच के लिए हानिकारक हैं। क्या आप खास तौर से भारत के प्रसंग में मौजूदा स्कूली व्यवस्था की समस्या पर रोशनी डाल सकते हैं?

अरविन्द गुप्ता: जैसा कि मैंने पहले कहा था, पाठ्यचर्या – मान लीजिए एनसीईआरटी की पाठ्यचर्या को ही लें... जब प्रोफेसर कृष्ण कुमार एनसीईआरटी के डायरेक्टर थे तो वहाँ कुछ सकारात्मक कोशिशें की गईं। नगरपालिका स्कूलों या गाँवों की पाठशालाओं में पढ़ने वाले लाखों बच्चों के लिए सम्भवतः पाठ्यपुस्तकें ही एकमात्र लिखित सामग्री होती हैं। उनके पास किस्से-कहानियों की किताबें नहीं होतीं, कोई पूरक सामग्री नहीं होती। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कृष्ण कुमार ने कहा कि अगर हम देश के श्रेष्ठतम लोगों, श्रेष्ठतम लेखकों, श्रेष्ठतम चित्रकारों को लेकर अपनी स्कूली पुस्तकों में रचनात्मक ऊर्जा का समावेश कर दें तो हम एक छोटी-सी सही मगर अहम भूमिका निभा रहे होंगे। अपने पाँच साल के कार्यकाल में वे इसी दिशा में प्रयास करते रहे।

यकीन मानिए, आज एनसीईआरटी की किताबें निजी क्षेत्र के लिए भी पैमाना बन चुकी हैं। यह है जो एनसीईआरटी कर सकता था, और उसने कर दिखाया। एनसीईआरटी ने तो बहुत सकारात्मक रास्ता खोल दिया है मगर हमारे ऊपर आज भी 'चॉक एण्ड टॉक' पद्धति का औपनिवेशिक खुमार चढ़ा हुआ है जहाँ बच्चों को लेक्चर दिए जाते हैं, बच्चों को रटने के लिए कहा जाता है और वे इम्तिहान में जाकर रटा हुआ उगल देते हैं।

विज्ञान तो तैराकी जैसा है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तैराकी में आपके पास पीएच.डी. है या नहीं। जब तक आप खुद पानी में छलांग नहीं लगा पाएँगे, अपने हाथों से छपाक-छपाक नहीं करेंगे तब तक आप तैरना नहीं सीख सकते। यही किस्सा विज्ञान के साथ है। आप सारे सूत्र सीख सकते हैं। सारी परिभाषाओं को सही-सही याद कर सकते हैं। मगर जब तक आप यहाँ-वहाँ भटकेंगे नहीं, अपने हाथ गन्दे नहीं करेंगे, सचमुच की चीज़ें नहीं बनाएँगे, उनको सिद्धान्त से जोड़कर यह नहीं देखेंगे कि क्या नतीजा निकला है तब तक आपका ज्ञान अधूरा रहेगा, एकायामी बना रहेगा। मेरे खयाल में हमें एक गहरे शिक्षाशास्त्रीय बदलाव की ज़रूरत है। मेरे खयाल में सही सुझावों की कोई कमी नहीं है, तमाम प्रगतिशील स्कूल परियोजना-प्रोजेक्ट मैथड की बात कर रहे हैं। होशंगाबाद साईंस टीचिंग प्रोग्राम भी हमारे सामने है जो मेरे खयाल में विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में एक पथप्रदर्शक प्रयोग था। यह पूरे देश में सबसे बड़ा गतिविधि आधारित विज्ञान कार्यक्रम था जिसमें 1500 ग्रामीण स्कूलों को शामिल किया गया था और उसमें एक लाख से ज़्यादा बच्चे विज्ञान सीख रहे थे। बाद में मध्य प्रदेश सरकार ने इसको बन्द कर दिया जो कि बहुत ही शर्म की बात है।

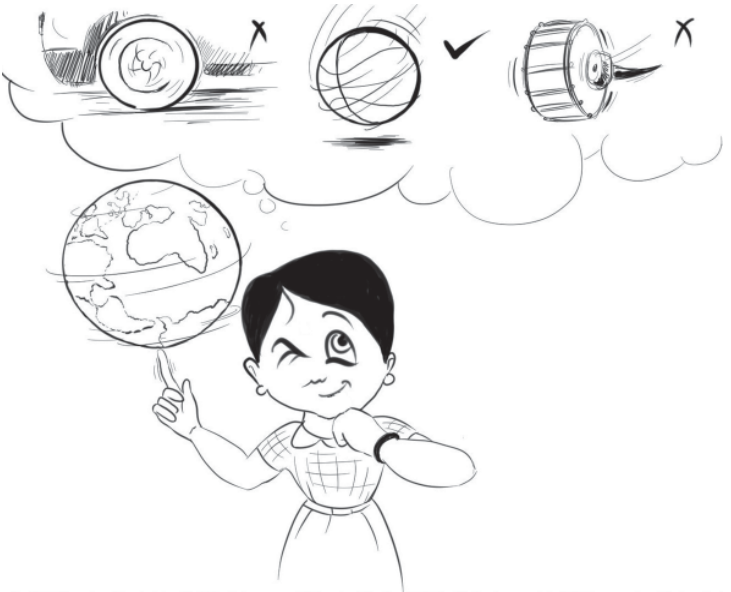

? **विवेक वेलांकी:** आपने उच्च शिक्षा के बारे में भी समय-समय पर बात की है। आपने 2008 के अपने एक इंटरव्यू में इस बात का भी ज़िक्र किया था कि जब बच्चे माध्यमिक कक्षाओं में पहुँचते हैं तो क्या होता है। आपने कहा था, "आज आईआईटी कोचिंग इंडस्ट्री 10,000 करोड़ रुपए से ऊपर जा चुकी है। माँ-बाप की शह पर यह बच्चों की बुद्धि और रचनात्मकता को पीट-पीट कर भोथरा बना देती है। इस बर्बरता पर विराम लगाना ज़रूरी है।" क्या आप इसके बारे में कुछ कहना चाहेंगे?

अरविन्द गुप्ता: मुझे यह बात बहुत गहरे तौर पर चुभती है। मेरे खयाल में 10,000 करोड़ भी अब बहुत मामूली रकम रह गई है, यह उद्योग इससे कहीं ज़्यादा फैल चुका है, क्योंकि जो भी आज आईआईटी में दाखिला लेना चाहता है, उसे इन कोचिंग की दुकानों से तो गुज़रना ही पड़ता है। पहले बच्चे के दसवीं के इम्तिहानों के बाद यह कोचिंग शुरू होती थी और दो साल तक आप इनमें खटते थे। अब ये संस्थान छठी या सातवीं कक्षा से ही बच्चों को अपने जाल में फँसा लेते हैं। इन भयानक दुकानों में बच्चों को भीषण मानसिक यंत्रणा का सामना करना पड़ता है।

यहाँ उनकी उत्सुकता, चीज़ों को सुलझाने की उनकी चाह, सब खत्म कर दी जाती हैं। मैं खुद अपने अनुभव से बता सकता हूँ। चालीस साल पहले हमारे पास कोचिंग इंस्टीट्यूट नहीं हुआ करते थे। हम सामान्य कुशाग्र बुद्धि वाले बच्चे होते थे और हमारे भीतर यह जानने की उत्सुकता होती थी कि दुनिया कैसे चलती है। आईआईटी में पहुँचने पर भी हम बहुत दिलचस्प चीज़ें किया करते थे। जब हमने देखा कि मैस कर्मचारियों के बच्चे स्कूल नहीं जा पा रहे हैं तो हमने उनके लिए स्कूल बनवाया। अगर वहाँ कोई अन्याय होता था तो हम उसके खिलाफ आवाज़ उठाते थे। मेरा खयाल है कि आजकल माँ-बाप अपने बच्चों की कोचिंग में इतना निवेश कर चुके होते हैं कि बच्चों के सामने सीधी लकीर पर चलने के अलावा कोई चारा नहीं होता। उनके पास सवालों के जवाब देने, विदेश जाने और मोटी रकमें कमाने की धुन सवार रहती है। इसी कारण उनमें से बहुत सारे तो फाइनेंस और ऐसे क्षेत्रों में चले जाते हैं जिनका उनकी पढ़ाई से दूर-दूर तक कोई ताल्लुक नहीं होता।

इसके अलावा, पहले आईआईटी के स्नातक कार्यक्रम भी पाँच साल के हुआ करते थे और उनमें समाज-विज्ञान का काफी बड़ा हिस्सा होता था। अगर आपको प्रोफेसर यशपाल कमेटी के बारे में याद हो, जिसका गठन यही सुझाने के लिए किया गया था कि आईआईटी की पढ़ाई को कैसे और

व्यापक बनाया जाए, तो आप पाएँगे कि कमेटी ने इस बात का साफ उल्लेख किया है कि न केवल समाज-विज्ञान के पाठ्यक्रमों को शामिल किया जाना चाहिए बल्कि आईआईटी में कभी-कभार संगीत कार्यक्रमों का भी आयोजन किया जाना चाहिए। प्रो. यशपाल ने खास तौर से इस बात का ज़िक्र किया है कि आपको आईआईटी में कलाकारों, शिल्पकारों की स्थायी नियुक्ति करनी चाहिए और समाज-विज्ञान के इस पहलू पर बहुत गम्भीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए। असल में, समाज-विज्ञान ही है जो समाज के बारे में हमें मूल्य-मान्यताएँ सिखाता है और अगर आप किसी भी समस्या को देखें तो उसका तकनीकी आयाम बहुत ही छोटा होता है, मगर उसके राजनीतिक आयाम कई गुना बड़े होते हैं।

? **विवेक वेलांकी:** इस समस्या पर आपकी वेबसाइट पर भी किताबों और पाठ्यसामग्री का भण्डार जमा हो चुका है। यह संकलन पाठ्य सामग्रियों को शिक्षा की प्रक्रिया का अभिन्न अंग मानने के आपके विश्वास का नतीजा है। क्या आप इस पर कुछ रोशनी डालना चाहेंगे?

अरविन्द गुप्ता: मेरी वेबसाइट पर एक नारा दिया गया है जो सत्तर के दशक में ऑक्सफेम द्वारा जारी किए गए एक पोस्टर से चुराया गया है। नारा यह है – "दुनिया के किसी कोने में इंजीनियर कुछ लोगों को आवाज़ से भी तेज़ रफ्तार से उड़ाने की जुगत कर रहे हैं और दुनिया के बहुत

सारे इलाकों में इंजीनियर उन लोगों की दुनिया में रोशनी ला रहे हैं जिनके पास उड़ने का चारा नहीं है।" यह नारा हमारे दौर के अन्तर्विरोध को बहुत बेरहमी से सामने ला देता है। मैं हज़ारों स्कूलों में जा चुका हूँ, और जहाँ भी गया हूँ, पुस्तकालयों को तालों में बन्द पाया है। इक्का-दुक्का स्कूल हो सकते हैं जहाँ एक मेहनती प्रधानाचार्य और लाइब्रेरियन हों। मगर ज़्यादातर स्कूलों में लाइब्रेरी बन्द ही मिलती है। अगर लाइब्रेरी होती भी है तो बच्चों को किताबें नहीं मिलतीं। अब आधुनिक प्रौद्योगिकी हमें दुनिया के इस समृद्धतम भण्डार को साझा करने की सुविधा दे रही है।

प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग एक भव्य स्वप्न था। कुछ बहुत आला दिमागों ने यह सपना देखा था और उनका नारा था – "एक बिलियन लोगों के लिए एक मिलियन किताबें।" दुनिया की एक-एक किताब, हर भाषा की एक-एक किताब का डिजिटल संस्करण तैयार करके, उसे मुफ्त उपलब्ध कराया जा सकता है। यह 10 साल पहले की पैदल प्रौद्योगिकी थी। बहुत लघु स्तर पर मैं भी अपनी वेबसाइट पर कुछ ऐसी ही चेष्टा कर रहा हूँ। शिक्षा, पर्यावरण, विज्ञान, अन्तरिक्ष सम्बन्धी और दुनिया भर का बाल साहित्य इकट्ठा करके हम उसे हिन्दी, मराठी और अन्य बहुत सारी विविध भाषाओं में अनुवाद कराते हैं। फिर उनका पीडीएफ बनाकर अपनी वेबसाइट पर डाल देते हैं। आज इस वेबसाइट पर 4,000 किताबें जमा हो चुकी हैं और हर रोज़ हमारी वेबसाइट से हज़ारों किताबें डाउनलोड की जा रही हैं। यह देखकर हमें थोड़ा सन्तोष होता है क्योंकि डिजिटल पुस्तकें ही हमारा भविष्य हैं।

मुझे नहीं मालूम कि आत्मा और परमात्मा किस बला का नाम है मगर जब मैं मर जाऊँगा तो साइबरस्पेस में कहीं-न-कहीं यह वेबसाइट तैरती रहेगी। यही मेरी आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति होगी। हमारे पास बहुत सारी समृद्ध भाषाओं में हज़ारों किताबें हैं। हमारी 22 राजकीय भाषाएँ हैं जिनमें से ज़्यादातर में किताबों की दोबारा छपाई नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकाशकों के लिए उनमें ज़्यादा फायदा नहीं है। मगर इन किताबों का डिजिटलाइज़ेशन करके, उन्हें हमारी वेबसाइट पर डाला जा सकता है। इसमें कुछ तकनीकी समस्याएँ भी रहती हैं। आपको लेखक के मरने के बाद 60 साल तक इन्तज़ार करना पड़ता है। यह कॉपीराइट कानून का प्रावधान है। यह कॉपीराइट कानून कभी गुफा युग में बने थे। अब दुनिया बहुत आगे जा चुकी है और हमें उन पर नए सिरे से सोचने की ज़रूरत है। जो किताबें 20 साल पुरानी हो चुकी हैं या अब बाज़ार में नहीं मिलतीं, उनका डिजिटलाइज़ेशन करके उन्हें वेबसाइट पर डाल देना चाहिए ताकि तमाम बच्चे और समूची इंसानियत उनका लाभ उठा सके।

? **विवेक वेलांकी:** बच्चों के साहित्य से भी आपका गहरा प्रेम रहा है। और मेरे खयाल से हमें इस चर्चा के अन्त में आपकी सबसे पसन्दीदा किताब का ज़िक्र तो करना ही चाहिए – वह किताब जो आपकी राय में सभी पाठकों को लाज़मी तौर पर पढ़नी चाहिए।

अरविन्द गुप्ता: 'सडाको एण्ड दि थाउज़ेंड पेपर क्रेन्स' मेरी सबसे पसन्दीदा किताबों में से एक है। इसका मैंने हिन्दी में अनुवाद भी किया है। यह सडाको की सच्ची कहानी पर आधारित है। सडाको की उम्र उस समय केवल दो साल थी जब अमेरिका ने हिरोशिमा पर एटम बम गिराया था। सडाको का घर उस जगह से नौ किलोमीटर दूर था जहाँ बम गिराया गया था और लिहाज़ा, सडाको की जान बच गई थी। हिरोशिमा के पुनर्निर्माण के बाद वह स्कूल जाने लगी। वह अपने स्कूल में सबकी आँखों का तारा थी। कुछ साल बाद एक दफे वह स्कूल की रिले रेस के लिए अभ्यास कर रही थी। इसी दौरान मैदान में ही उसे चक्कर आने लगे और उस पर सुस्ती छाने लगी। स्कूल वाले उसे पास ही में स्थित रेड क्रॉस अस्पताल लेकर गए। अस्पताल में जाँच करने पर पता चला कि उसे ल्यूकीमिया यानी खून का कैंसर है। यह जानकर तो उसका दिल बैठ गया। तभी एक दिन उसकी सहेली शिज़ूको उससे मिलने आई। उसने सडाको को बताया कि जापान में कहावत है कि अगर तुम कागज़ की छोटी-छोटी 100 सारस (क्रेन) बना दो तो भगवान तुम्हारी दुआ कुबूल कर लेता है।

पहली रात को सडाको ने कागज़ की दो सारस बनाईं। उसके लिए ज़िन्दगी की सारी उम्मीद इन्हीं कागज़ के टुकड़ों में बची थी। छह महीने में उसने

565 सारस बना दी थीं और फिर वह हमसे विदा हो गई। उसकी याद में एक 'इंटरनैशनल सोसायटी ऑफ पेपर्स क्रेन्स' आज सक्रिय है। हर साल दो करोड़ से ज़्यादा बच्चे कागज़ की सारसें बनाते हैं और उन्हें हिरोशिमा भेजा जाता है। इस पूरी कवायद का सन्देश यह होता है कि 'ये हमारी दुआएँ हैं, ये हमारे आँसू हैं - हमारी खातिर, अब जंग फिर न हो।' हमारा ज़्यादातर साहित्य सिर्फ युद्ध के बारे में है। हमारे देश में तो शान्ति पर कोई बढ़िया किताब ढूँढ़ना ही मुश्किल है। इसीलिए मैंने इस किताब का अनुवाद किया और अब यह सात भारतीय भाषाओं में छप चुकी है। मैं और भी युद्ध विरोधी किताबों का अनुवाद करना चाहता हूँ। यह शान्ति की चाह का सवाल है। यह किताब भी आप वेबसाइट से डाउनलोड कर सकते हैं। मैं हर रोज़ तीन घण्टे हिन्दी में अनुवाद करता हूँ। नतीजतन, हिन्दी में अब बहुत सारी किताबें हैं जिन्हें मेरी वेबसाइट से आप डाउनलोड कर सकते हैं।

अरविन्द गुप्ता: विज्ञान तथा वैज्ञानिक गतिविधियों पर 25 के करीब किताबें लिखी हैं तथा 170 किताबों का हिन्दी में अनुवाद किया है। उनकी विज्ञान पर आधारित 125 फिल्मों को दूरदर्शन पर प्रस्तुत भी किया गया है। उन्हें कई सम्मान प्राप्त हुए हैं जिसमें साइंस पॉप्युलराइज़ेशन अमंगस्ट चिल्ड्रन का पहला राष्ट्रीय पुरस्कार (1988) उल्लेखनीय है। सन् 2018 में उन्हें पद्मश्री से भी नवाज़ा गया। विज्ञान, खिलौनों तथा किताबों के अपने प्रेम को वे अपनी वेबसाईट https://www.arvindguptatoys.com/ के द्वारा साझा करते हैं।

विवेक वेलांकी: फिलहाल, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी स्थित कॉलेज ऑफ एजुकेशन के करिक्युलम, इंस्ट्रक्शन एण्ड टीचर एजुकेशन विभाग से पीएच.डी. कर रहे हैं। जिस समय यह साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया था, उस समय वे रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंटरी एजुकेशन (आरआरसीईई), दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोजेक्ट ऑफिसर के पद पर काम कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सुधार, आलोचनात्मक सिद्धान्त, जाति, नस्ल और जेंडर आदि सवाल उनके शोध का मुख्य विषय रहे हैं।
सम्पर्क: vivek.vellanki@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: योगेंद्र दत्त।

सभी चित्र: निशित मेहता: महाराजा सयाजीराव युनिवर्सिटी ऑफ वडोदरा से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातक और कला का इतिहास विषय में स्नातकोत्तर। चित्रकार, लेखक व एटलस स्किलटेक यूनिवर्सिटी, मुम्बई में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

यह साक्षात्कार क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केन्द्र (आरआरसीईई), दिल्ली यूनिवर्सिटी द्वारा डायलॉगिंग एजुकेशन शृंखला के तहत रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार का सम्पादित संस्करण है। इस संकलन के साक्षात्कारों को लिखित और ऑडियो माध्यमों में www.rrcee.net पर भी देखा जा सकता है। सम्पादक - विवेक वेलांकी व पूनम बत्रा।

टॉफी

लाल्टू

उन दिनों जहाँ हम रहते थे, अब वहाँ एक बहुमंज़िला इमारत है। बांग्ला में उस तरह के इलाके को 'बस्ती' कहते हैं। बस्ती का मतलब झुग्गी झोंपड़ियों वाला इलाका-सा होता है, हालाँकि हमारी उस बस्ती में पक्के मकान थे। हमारे घर में दो कमरे थे। एक कमरे में एक कोने में रसोई का इन्तज़ाम था। कोई दस परिवारों के लिए चार पाखाने थे। दो पानी के नल, जिनमें दो बार, सुबह-शाम पानी आता और पानी के लिए झगड़ा होता।

बापू यानी पिता जी सुबह-सुबह उठते; मुझे भी उठा देते। जल्दी-जल्दी नित्य-कर्म करने के बाद दोनों मिलकर नाश्ता तैयार करते। पिता जी स्टोव जलाते और मैं टीन से

आटा थाली में डालता, जब तक चाय का पानी गर्म होता, पिता जी जल्दी-से आटा गूँथ लेते। मेरे लिए दूध गर्म करके, उसी में से एक-दो चम्मच अपनी चाय में डालकर, फिर चाय पीते-पीते मेरे लिए परांठे सेंकते। खुद कभी खाते, कभी नहीं। फिर पगड़ी जमाने में आधा घण्टा लगा देते।

अधिकतर सुबहों में एक बूढ़ा आदमी एकतारा बजाता हुआ आता और दर-दर जाकर गाता, "हरि की मिश्री घोल मनवा, राम नाम नित बोल।" पिता जी उसे देखते ही डाँटकर कहते, "कभी कुछ काम-धाम भी कर, रोज़ आ जाता है।" फिर उसे एक परांठा दे देते। मुझे ऐसा दिन याद नहीं आता, जब वह आदमी खाली हाथ लौटा हो।

स्कूल अधिक दूर न था। हम पैदल जाते। अकेले जाने की कल्पना भी मैं नहीं कर पाता। जाने किसने मुझे कह दिया था कि स्कूल के सामने से जो सड़क कोयला डीपो की ओर जाती थी, उसके दूसरे छोर पर बाघ और चीते मिलते थे। पिता जी के साथ चलते-चलते कई बार मैं सोचता कि अगर कोई शेर आ ही गया तो वे उसे मार डालेंगे।

स्कूल पहुँचते ही मैं अपनी कक्षा के बच्चों के साथ घुलमिल जाता और पिता जी अपने साथी शिक्षकों के साथ। उनको देखते ही बाकी शिक्षक कहते, "सरदार जी नमस्कार!" यह मुझे बाद में पता चला था कि उनका नाम गुरप्रीत सिंह भले था, लोग उन्हें सरदार जी ही कहते थे, क्योंकि उन दिनों सभी सिखों को सरदार जी ही कहा जाता था।

***

कोलकाता का एक साधारण म्युनिसिपैलिटी स्कूल। निहायत गरीब और साधारण, हिन्दी माध्यम। टिफिन के वक्त बच्चों को दूध, ब्रेड और कभी-कभी फल या मिठाई बँटती। यह सरकारी राहत थी। पिता जी ने कह रखा था कि मैं दूध कभी न पिऊँ और केला सड़ा हो तो न खाऊँ। उनकी इच्छा के खिलाफ दूध पीने या सड़ा केला खाने की हिम्मत मैंने कभी नहीं की।

मुझे यह याद नहीं कि वे क्या पढ़ाते थे। शायद उस स्कूल का हर टीचर हर विषय पढ़ाता था। मेरे प्रति सभी शिक्षकों की अलग कृपा-दृष्टि थी। यह केवल इसलिए नहीं कि मेरे पिता उनके साथी थे, बल्कि इसलिए भी कि माँ का न होना, उनको मेरे जीवन की बहुत बड़ी दुर्घटना लगती थी।

माँ की हल्की-सी याद मन में है। वह कब मेरे जीवन से विलुप्त हो गई, यह मुझे याद नहीं। शायद मुझे कभी बतलाया ही न गया हो कि माँ का चला जाना क्या होता है और मैं उसके न होने का आदी हो गया था। अब मैं जानता हूँ कि मुझे जन्म देकर सत्रह साल की उम्र में ही माँ गुज़र

गई थी। कभी-कभी अचानक ही माँ का चेहरा मुझे दिख जाता है, पर शायद वह उसके एक पीले पड़ गए फोटोग्राफ को देखने की वजह से होगा, जो हमारे सबसे पुराने एलबम के पहले पन्ने पर जड़ा है। फोटोग्राफ में वह इतनी सुन्दर नहीं है, जितनी कल्पना में दिखती है। उसकी शक्ल से भी अधिक उसके स्पर्श की एक अनुभूति मन और शरीर की अनजान प्रक्रियाओं में अचानक ही कभी उभरती है और मैं देर तक सोचता रह जाता हूँ।

स्कूल शायद सुबह सात बजे से दिन बारह बजे तक चलता। भरी दोपहर लौटकर पिता जी फिर एक बार मुझे नहलाकर – जाड़ों में हाथ-पैर धुलाकर – खाना बनाते। बचपन के उन दिनों में खाए खाने का स्वाद अभी तक मेरी जीभ पर है। शायद पिता जी पंजाब से लाए देशी घी का बहुत उपयोग किया करते। साल में एक महीना - आम तौर से गर्मियों में - हम पंजाब जाते। वहाँ अम्बो यानी दादी माँ देशी घी का पीपा तैयार रखतीं। साल भर में एक दस किलो का पीपा हम दोनों मिलकर खत्म करते।

दोपहर में आराम करने के बाद पिता जी ट्यूशन करने निकलते। आम तौर से मैं घर पर ही खेलता रहता या उनकी दी हुई हिदायत के अनुसार पढ़ता-लिखता। कभी-कभार उनके साथ भी चल पड़ता था। अब सोचता हूँ तो लगता है कि कई बच्चों को वे मुफ्त पढ़ाते, पर कुछेक जगहों पर उन्हें दस रुपए के आसपास महीने में मिलता। उनके साथ चलने पर स्टेशन तक मुझे ले जाते और रेलगाड़ी के बारे में समझाते। अवाक नेत्रों से मैं धुँआ छोड़ते उन दानवों को देखता और पिता जी भाप का इंजन और पिस्टन वगैरह के बारे में मुझे बतलाते।

कभी-कभी कुछ बच्चे घर आकर उनसे पढ़ते। शाम होते ही वे चले जाते। शाम को पिता जी अक्सर दारू पी लेते और ज़रा-सी गलती पर मुझे पीटते। कभी-कभी पड़ोसी आकर मुझे छीन ले जाते और बाद में उनके पास सुला जाते। बड़ा अचरज होता है कि उनके पीटने के बावजूद मुझे उन्हीं के पास लेटने में सबसे अधिक सुरक्षा महसूस होती। दूसरे दिनों वे देर रात तक बैठ किताबें पढ़ते रहते।

***

जिस दिन की याद मुझे सबसे अधिक आती है, उस दिन भी उन्होंने दारू पी थी और खूब शोर मचाया था। उस दिन दोपहर को राजकिशोर नाम का एक लड़का घर पर पढ़ने आया था। गर्मी के दिन थे। राजकिशोर को सवाल करवाने में पिता जी परेशान हो रहे थे। अचानक बिजली चली गई। कमरे में एक पंखा था। डी.सी. करेंट से चलता। पंखा बन्द हो जाने से उमस बढ़ गई और पिता जी बार-बार गर्दन हिलाने लगे। एक बार उन्होंने

कहा, "बहुत गर्मी है....पंखा भी बन्द हो गया।" उन्होंने पगड़ी भी उतारकर रख दी थी।

राजकिशोर मुस्करा रहा था। पिता जी झल्ला उठे, "हँसने की क्या बात है रे?"

वह बिना घबराए बोला, "हमारे घर तो पंखा है ही नहीं, सर जी!"

पिता जी थोड़ी देर उसकी ओर देखते रहे और बोले, "जाओ, आज जाओ, कल आ जाना।" उसके चले जाने के बाद भी पिता जी देर तक वहीं बैठे रहे।

उस शाम वे मुझे साथ लेकर किसी के घर गए। ट्राम पर चढ़कर थोड़ी दूर। ट्राम का किराया उन दिनों पाँच पैसे था। कुछ सालों बाद सरकार ने एक पैसा किराया और बढ़ाया तो

शहर भर में दंगे हुए थे। जिस घर में हम पहुँचे, वहाँ भी एक सिख परिवार रहता था। हट्टे-कट्टे कद के एक सज्जन शानदार पगड़ी पहने एक बड़ी कुर्सी पर बैठे थे। पिता जी ने पहुँचते ही कहा, "सत् श्री अकाल!"

मुझे 'सत् श्री अकाल' कहना सिखाया गया था, पर मैं भूल गया था और हाथ जोड़ते ही मुँह से निकलता, "नमस्कार"। मुझे एक चॉकलेट टॉफी दी गई और फिर मेरा होना जैसे वे लोग भूल ही गए। पता नहीं, उस घर में बच्चे थे या नहीं। मैं इधर-उधर रखा सामान, दीवार पर लटका गुरु-नानक की तस्वीर वाला कैलेंडर वगैरह देखता और रुक-रुक कर पिता जी की ओर देखता। कैलेंडर के पन्ने पंखे की हवा में फड़फड़ाते हुए बिखरने की कोशिश करते और कोई अदृश्य हाथ उन्हें वापस संजोता रहता।

***

एक बार उन सज्जन ने - उनका नाम शायद हरभजन सिंह था - कहा, "गुरप्रीत, तू अकेला सरदार होगा सारे बंगाल में, जो इस तरह प्राइमरी के बच्चों को पढ़ाकर जी रहा है। यार, कुछ और कर ले। हमारी टैक्सी चला ले। कुछ कमाके पिण्ड (गाँव) लै जा।"

तभी मैंने पिता जी की ओर देखा। दाढ़ी से ढके गालों के ऊपर उनकी आँखें फीकी होती जा रही थीं। उन्होंने शायद कुछ कहने की कोशिश की, पर अब याद नहीं आता।

फिर हरभजन बोले, "यार, आजकल मिल्ट्री में भर्ती हो रही है। लड़के को गाँव में रख और भर्ती हो जा। जंग कुछ महीनों में खत्म हो जाएगी - तेरी अच्छी नौकरी रह जाएगी।" पिता जी उन दिनों सत्ताईस साल के होंगे। मैंने वर्दी पहने सिख सैनिक देखे थे। मेरे मन में पिता जी को वर्दी पहने देखने की एक तीव्र इच्छा होने लगी।

वह चीन की लड़ाई थी। 1962 की। पिता जी अचानक बोले, "मिल्ट्री का सवाल ही नहीं उठता, दुनिया में कोई मिल्ट्री नहीं होनी चाहिए।"

हालाँकि, यह बड़ी अजीब बात थी, पर मुझे उन पर इतना भरोसा था कि अचानक लगने लगा कि वर्दी पहनने पर आदमी कोयला डीपो के पास रहने वाला बाघ बन जाता है।

हरभजन बोले, "तेरा तो किताबों ने सिर खा लिया है। हर देश की अपनी सेना होनी ज़रूरी है। नहीं तो चीन आज हमला करके यहाँ तक पहुँच जाए।"

पिता जी बोले, "आज ही मेरे पास एक लड़का आया था, इस बड़े शहर में भी उनके घर बिजली नहीं है। उसे क्या फर्क पड़ेगा कि कोई बंगाल आता है या हुनान? इतने लोगों की मौत किसी के भी हित में नहीं है।"

हरभजन उनकी ओर देखते रह गए। फिर अचानक बोले, "तेरा इलाज हमें पता है। अब कई साल हो गए

गुरप्रीत। तू अब फिर से घर बसा। बेटे को भी सही परवरिश मिलेगी।"

पिता जी सिर झुकाए बैठे रहे। कुछ नहीं बोले। थोड़ी देर हरभजन बोलते रहे। फिर औपचारिक बातें कहकर पिता जी उठ पड़े और हम वापस आ गए।

उस साल मुहल्ले में किसी ने दीवाली न मनाई थी। ब्लैक-आउट होता तो मैं पिता जी के साथ चिपका बैठा रहता। उनकी तड़प का एहसास मुझे अभी तक होता है। उन दिनों शहर की रातें सुनसान होती थीं। ब्लैक-आउट से वे और भी भयावह लगतीं।

हरभजन के घर से लौटकर उस दिन उन्होंने फिर दारू पी। पर उस दिन मेरी पिटाई नहीं हुई। पास बुलाकर बड़े प्यार से कहा, "क्यों रे, तुझे वो टॉफी अच्छी लगी थी?"

मैं कहना चाहता था कि वह टॉफी बहुत अच्छी लगी थी, पर उनकी

शक्ल की ओर देखते ही होंठों से निकला था, "नहीं, मैंने वह टॉफी खाई ही नहीं। बाहर फेंक दी।"

उनके चेहरे पर तब मुस्कान आ गई थी। इसके बाद वे चीखने लगे थे।

आज मैं जहाँ रहता हूँ, वहाँ हमारा अपना बाथरूम है। दो कमरों में अलग-अलग पंखे लगे हैं। पिता जी की बहुत बाद की तस्वीर फ्रेम में बँधी एक दीवार पर लगी है। दूरदर्शन पर बोस्निया में चल रही लड़ाई की खबरें सुन रहा हूँ। मेरी पत्नी, जिसका नाम भी गुरप्रीत है, रसोई में पानी भरते हुए मुझसे कह रही है, "इस बार कूलर लगवा ही लो, गर्मी बहुत पड़ रही है।"

कूलर लगना ही चाहिए, सोचते हुए गर्दन मोड़ते ही चौंक उठता हूँ। दीवार के सामने पिता जी खड़े मुस्करा रहे हैं। प्यार से पूछते हैं, "तूने वो टॉफी खाई थी न?"

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि व कहानीकार हैं।

सभी चित्र: हरमन: चित्रकार हैं। दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट, नई दिल्ली से फाइन आर्ट्स (चित्रकारी) में स्नातक और अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर। भटिंडा, पंजाब में रहती हैं।

वर्ष 24 अंक 139-144

शैक्षणिक संदर्भ

अंक: 139

अजगर बिलों में सेही के साथ...	05	जेंडर की जकड़न को तोड़ती...	59
हँसाते-रुलाते रिश्ते-नाते	10	हिन्दी भाषा का साहित्यिक...	66
बल्ब जलाओ जगमग-जगमग	23	रसोई में चिड़ियाघर	76
पुवितम में विज्ञान: ज़िन्दगी में...	43	चिड़िया पेशाब करती है या नहीं	81
दास्तान-ए-भोजन	51		

अंक: 140

विज्ञान की कक्षा में सामान्य ज्ञान	05	कभी खुशी कभी गम, भावनाओं...	56
डाकिया डाक लाया	13	बच्चे की दुनिया को देखने...	73
बच्चों के एल्गोरिदम और...	23	खीर	79
गणित की शिक्षा और कक्षा	32	मनुष्य अधिकतर गरीब क्यों...	84
खुशबू हो हर फूल में...	39	जलवायु परिवर्तन को समझने...	88
स्कूल तो खुल गए हैं लेकिन...	45		

अंक: 141

आपने लिखा	04	सहजता को ढाँचे में बाँधना...	41
मनुष्य की उत्पत्ति - भाग 1	05	पृथ्वी की विगत जलवायु...	50
मकड़ियों का अद्‌भुत संसार...	21	पढ़ना सिखाने की गाड़ी...	59
समूहवासी, सामाजिक और...	23	अभियान : टाइटन - भाग 1	69
पानी की जाँच	31	काँच कैसे बनता है?	84

अंक: 142

अनूठे हॉर्नबिल	05	अशोक की कहानी	63
जीवन-चक्र	17	सिर्फ मेरिट की बात करने से...	67
मनुष्य की उत्पत्ति: भाग-2	29	अभियान - टाइटन: भाग 2	81
स्कूली दुनिया में शिष्टाचार	41	दूध फटने और दही जमने में...	90
शौचालय - एक संघर्ष गाथा	51	जलवायु उथल-पुथल के दौर में...	95

अंक: 143

उल्काओं की बरसात: कुदरत...	05	अधिगम क्षति (लर्निंग लॉस)	43
पत्तों पर नाग-नागिन	11	सोचने की प्रक्रिया का एक...	51
पत्तियों पर साँप!	23	शिक्षा और मनोविज्ञान: नाज़ुक...	59
जंगल उगाना	29	अगस्त 2026: आएँगी हल्की...	71
तारा की क्लास	36	आम जहाँ से टूटता है...	82

अंक: 144

कौन हारा, कौन जीता?	05	अपना भविष्य बदलने के लिए...	49
कुदरत के सच और समाज...	15	कबाड़ से जुगाड़: विज्ञान...	55
हम कैसे जानते हैं कि तारे...	28	टॉफी	68
बेटा करे सवाल	31	इंडेक्स: अंक 139-144	75
मेरी शिक्षण यात्रा	37	कबूतर या पक्षी कंकड़ को...?	83
बातचीत और अवलोकन	43		

इंडेक्स देखने का तरीका: छह अंकों में प्रकाशित सामग्री का विषय आधारित वर्गीकरण किया गया है। कई लेखों में एक से ज़्यादा मुद्दे शामिल हैं इसलिए वे लेख एक से ज़्यादा स्थानों पर रखे गए हैं। लेख के शीर्षक और लेखक के नाम के साथ पहले बोल्ड में उस अंक का क्रमांक है जिसमें वह लेख प्रकाशित हुआ है। फुलस्टॉप के बाद उस लेख का पृष्ठ क्रमांक दिया गया है। उदाहरण के लिए लेख 'बल्ब जलाओ जगमग-जगमग' **139**.23 का अर्थ है, यह लेख अंक 139 के पृष्ठ क्रमांक 23 से शुरू होता है।

भौतिकी (Physics)/खगोलशास्त्र (Astronomy)

बल्ब जलाओ जगमग-जगमग	कालू राम शर्मा	**139**.23
विज्ञान की कक्षा में सामान्य ज्ञान	के.के. मशूद व पुन्य मिश्र	**140**.05
उल्काओं की बरसात: कुदरत...	शशि सक्सेना	**143**.05
हम कैसे जानते हैं कि तारे...	राजाराम नित्यानन्द	**144**.28

रसायनशास्त्र (Chemistry)

डाकिया डाक लाया	कालू राम शर्मा	**140**.13
पानी की जाँच	कालू राम शर्मा	**141**.31
काँच कैसे बनता है?	सवालीराम	**141**.84
दूध फटने और दही जमने में क्या...	सवालीराम	**142**.90
आम जहाँ से टूटता है, उस हिस्से...	सवालीराम	**143**.82

वनस्पतिशास्त्र (Botany)

पुवितम में विज्ञान: ज़िन्दगी से...	मीनाक्षी उमेश	**139**.43
दास्तान-ए-भोजन	मिहिर पाठक	**139**.51
जलवायु परिवर्तन को समझने में...	...	**140**.88
सहजता के ढाँचे में बाँधना:...	राधा गोपालन	**141**.41
पत्तों पर नाग-नागिन	कालू राम शर्मा	**143**.11
पत्तियों पर साँप	चकमक के झरोखे से	**143**.23
जंगल उगाना	आनन्द व राधा गोपालन	**143**.29
आम जहाँ से टूटता है, उस हिस्से...	सवालीराम	**143**.82

प्राणीशास्त्र (Zoology)/माइक्रोबायोलॉजी

अजगर बिलों में सेही के साथ...	अदिति मुखर्जी	**139**.05
चिड़िया पेशाब करती है या नहीं?	सवालीराम	**139**.81
डाकिया डाक लाया	कालू राम शर्मा	**140**.13
मनुष्य की उत्पत्ति- भाग 1	सत्यजित रथ	**141**.05
मकड़ियों का अद्‌भुत संसार:...	किशोर पंवार	**141**.21
समूहवासी, सामाजिक और...	विपुल कीर्ति शर्मा	**141**.23
सहजता के ढाँचे में बाँधना:...	राधा गोपालन	**141**.41
पृथ्वी के विगत जलवायु के बारे में...	रेचल ई. ग्रॉस्स	**141**.50
अनूठे हॉर्नबिल	विपुल कीर्ति शर्मा	**142**.05
जीवन-चक्र	कालू राम शर्मा	**142**.17
मनुष्य की उत्पत्ति- भाग 2	सत्यजित रथ	**142**.29
दूध फटने और दही जमने में क्या...	सवालीराम	**142**.90
जलवायु उथल-पुथल के दौर में...	श्रेया	**142**.95
पत्तों पर नाग-नागिन	कालू राम शर्मा	**143**.11
पत्तियों पर साँप	चकमक के झरोखे से	**143**.23
कबूतर या पक्षी कंकड़ कैसे पचाते...?	सवालीराम	**144**.83

पारिस्थितिकी/जैव-विकास/अनुकूलन/मानव व्यवहार

अजगर बिलों में सेही के साथ...	अदिति मुखर्जी	**139**.05
हँसाते-रुलाते रिश्ते-नाते	अनु गुप्ता व संकेत करकरे	**139**.10
चिड़िया पेशाब करती है या नहीं?	सवालीराम	**139**.81
कभी खुशी कभी गम, भावनाओं...	अनु गुप्ता व संकेत करकरे	**140**.56
मनुष्य अधिकतर गरीब क्यों रहते हैं?	सवालीराम	**140**.84
जलवायु परिवर्तन को समझने में...	...	**140**.88
मनुष्य की उत्पत्ति- भाग 1	सत्यजित रथ	**141**.05
समूहवासी, सामाजिक और...	विपुल कीर्ति शर्मा	**141**.23
अनूठे हॉर्नबिल	विपुल कीर्ति शर्मा	**142**.05
मनुष्य की उत्पत्ति- भाग 2	सत्यजित रथ	**142**.29

जलवायु उथल-पुथल के दौर में...	श्रेया	**142**.95
सोचने की प्रक्रिया का एक अध्ययन	सुरेन्द्र नाथ त्रिपाठी	**143**.51
बेटा करे सवाल	अंजू, दीक्षा, गायत्री	**144**.31
कबूतर या पक्षी कंकड़ कैसे पचाते...?	सवालीराम	**144**.83

गणित

बच्चों के एल्गोरिदम और उनके...	मंगल पवार व आलोका	**140**.23
गणित की शिक्षा और कक्षा	निदेश सोनी	**140**.32
अधिगम क्षति (लर्निंग लॉस)	मीनू पालीवाल	**143**.43
कौन हारा, कौन जीता?	कालू राम शर्मा	**144**.05

इतिहास/भूगोल

हिन्दी भाषा का साहित्यिक सफर	अभिषेक दुबे	**139**.66
मनुष्य की उत्पत्ति- भाग 1	सत्यजित रथ	**141**.05
पृथ्वी के विगत जलवायु के बारे में...	रेचल ई. ग्रॉस्स	**141**.50
मनुष्य की उत्पत्ति- भाग 2	सत्यजित रथ	**142**.29
अपना भविष्य बदलने के लिए...	युवाल नोआ हरारी	**144**.49

बच्चों/शिक्षकों के साथ अनुभव

बल्ब जलाओ जगमग-जगमग	कालू राम शर्मा	**139**.23
पुवितम में विज्ञान: ज़िन्दगी से...	मीनाक्षी उमेश	**139**.43
दास्तान-ए-भोजन	मिहिर पाठक	**139**.51
जेंडर की जकड़न को तोड़ती...	ब्रजेश वर्मा	**139**.59
डाकिया डाक लाया	कालू राम शर्मा	**140**.13
बच्चों के एल्गोरिदम और उनके...	मंगल पवार व आलोका	**140**.23
गणित की शिक्षा और कक्षा	निदेश सोनी	**140**.32
खुशबू हो हर फूल में, हो हर बच्चा...	प्रियंका कुमारी	**140**.39
स्कूल तो खुल गए हैं लेकिन...	माया पाटीदार	**140**.45
पानी की जाँच	कालू राम शर्मा	**141**.31
सहजता के ढाँचे में बाँधना: सीखने...	राधा गोपालन	**141**.41

पढ़ना सिखाने की गाड़ी...	मीनू पालीवाल	**141**.59
जीवन-चक्र	कालू राम शर्मा	**142**.17
स्कूली दुनिया में शिष्टाचार	आनंद द्विवेदी	**142**.41
शौचालय - एक संघर्ष गाथा	प्रियंका कुमारी	**142**.51
अशोक की कहानी	कृष्ण कुमार	**142**.63
पत्तों पर नाग-नागिन	कालू राम शर्मा	**143**.11
पत्तियों पर साँप	चकमक के झरोखे से	**143**.23
जंगल उगाना	आनन्द व राधा गोपालन	**143**.29
तारा की क्लास	गोपाल मिड्ढा	**143**.36
अधिगम क्षति (लर्निंग लॉस)	मीनू पालीवाल	**143**.43
शिक्षा और मनोविज्ञान: नाज़ुक...	कमला मुकन्दा से बातचीत	**143**.59
कौन हारा, कौन जीता?	कालू राम शर्मा	**144**.05
बेटा करे सवाल	अंजू, दीक्षा, गायत्री	**144**.31
मेरी शिक्षण यात्रा	एकता चौरे	**144**.37
बातचीत और अवलोकन	शलाका गायकवाड	**144**.43

समीक्षा/पुस्तक अंश/व्याख्यान/साक्षात्कार

बल्ब जलाओ जगमग-जगमग	कालू राम शर्मा	**139**.23
हँसाते-रुलाते रिश्ते-नाते	अनु गुप्ता व संकेत करकरे	**139**.10
डाकिया डाक लाया	कालू राम शर्मा	**140**.13
बच्चे की दुनिया को देखने की...	देवी प्रसाद	**140**.73
मकड़ियों का अद्भुत संसार:...	किशोर पंवार	**141**.21
समूहवासी, सामाजिक और...	विपुल कीर्ति शर्मा	**141**.23
पानी की जाँच	कालू राम शर्मा	**141**.31
जीवन-चक्र	कालू राम शर्मा	**142**.17
शौचालय - एक संघर्ष गाथा	प्रियंका कुमारी	**142**.51
अशोक की कहानी	कृष्ण कुमार	**142**.63
सिर्फ मेरिट की बात करने से...	अमन मदान से बातचीत	**142**.67
पत्तों पर नाग-नागिन	कालू राम शर्मा	**143**.11

सोचने की प्रक्रिया का एक अध्ययन	सुरेन्द्र नाथ त्रिपाठी	**143**.51
शिक्षा और मनोविज्ञान: नाज़ुक...	कमला मुकन्दा से बातचीत	**143**.59
कौन हारा, कौन जीता?	कालू राम शर्मा	**144**.05
कुदरत के सच और समाज...	हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'	**144**.15
कबाड़ से जुगाड़: विज्ञान...	अरविन्द गुप्ता से बातचीत	**144**.55

भाषा शिक्षण/बाल साहित्य/कला

पुवितम में विज्ञान: ज़िन्दगी से...	मीनाक्षी उमेश	**139**.43
जेंडर की जकड़न को तोड़ती...	ब्रजेश वर्मा	**139**.59
हिन्दी भाषा का साहित्यिक सफर	अभिषेक दुबे	**139**.66
स्कूल तो खुल गए हैं लेकिन...	माया पाटीदार	**140**.45
बच्चे की दुनिया को देखने की...	देवी प्रसाद	**140**.73
पढ़ना सिखाने की गाड़ी...	मीनू पालीवाल	**141**.59
अशोक की कहानी	कृष्ण कुमार	**142**.63

शिक्षा शास्त्र

बल्ब जलाओ जगमग-जगमग	कालू राम शर्मा	**139**.23
पुवितम में विज्ञान: ज़िन्दगी से...	मीनाक्षी उमेश	**139**.43
जेंडर की जकड़न को तोड़ती...	ब्रजेश वर्मा	**139**.59
विज्ञान की कक्षा में सामान्य ज्ञान	के.के मशूद व पुन्य मिश्र	**140**.05
बच्चों के एल्गोरिदम और उनके...	मंगल पवार व आलोका	**140**.23
गणित की शिक्षा और कक्षा	निदेश सोनी	**140**.32
स्कूल तो खुल गए हैं लेकिन...	माया पाटीदार	**140**.45
बच्चे की दुनिया को देखने की...	देवी प्रसाद	**140**.73
पानी की जाँच	कालू राम शर्मा	**141**.31
सहजता के ढाँचे में बाँधना: सीखने...	राधा गोपालन	**141**.41
पढ़ना सिखाने की गाड़ी...	मीनू पालीवाल	**141**.59
जीवन-चक्र	कालू राम शर्मा	**142**.17
स्कूली दुनिया में शिष्टाचार	आनंद द्विवेदी	**142**.41
अशोक की कहानी	कृष्ण कुमार	**142**.63

सिर्फ मेरिट की बात करने से...	अमन मदान से बातचीत	**142**.67
पत्तों पर नाग-नागिन	कालू राम शर्मा	**143**.11
पत्तियों पर साँप	चकमक के झरोखे से	**143**.23
जंगल उगाना	आनन्द व राधा गोपालन	**143**.29
तारा की क्लास	गोपाल मिड्ढा	**143**.36
अधिगम क्षति (लर्निंग लॉस)	मीनू पालीवाल	**143**.43
सोचने की प्रक्रिया का एक अध्ययन	सुरेन्द्र नाथ त्रिपाठी	**143**.51
शिक्षा और मनोविज्ञान: नाज़ुक...	कमला मुकन्दा से बातचीत	**143**.59
कौन हारा, कौन जीता?	कालू राम शर्मा	**144**.05
कुदरत के सच और समाज...	हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'	**144**.15
मेरी शिक्षण यात्रा	एकता चौरे	**144**.37
बातचीत और अवलोकन	शलाका गायकवाड	**144**.43
अपना भविष्य बदलने के लिए...	युवाल नोआ हरारी	**144**.49
कबाड़ से जुगाड़: विज्ञान...	अरविन्द गुप्ता से बातचीत	**144**.55

कहानी

रसोई में चिड़ियाघर	कृष्ण कुमार	**139**.76
खीर	कृष्ण कुमार	**140**.79
अभियान: टाइटन - भाग 1	सतीश बलराम अग्निहोत्री	**141**.69
अभियान: टाइटन - भाग 2	सतीश बलराम अग्निहोत्री	**142**.81
अगस्त 2026: आएँगी हलकी फुहारें	रे ब्रैडबरी	**143**.71
टॉफी	लाल्टू	**144**.68

सवालीराम

चिड़िया पेशाब करती है या नहीं?	सवालीराम	**139**.81
मनुष्य अधिकतर गरीब क्यों रहते हैं?	सवालीराम	**140**.84
काँच कैसे बनता है?	सवालीराम	**141**.84
दूध फटने और दही जमने में क्या...	सवालीराम	**142**.90
आम जहाँ से टूटता है, उस हिस्से...	सवालीराम	**143**.82
कबूतर या पक्षी कंकड़ कैसे पचाते...?	सवालीराम	**144**.83

सवालीराम

सवाल: कबूतर या पक्षी कंकड़ को कैसे पचाते हैं?

- शिक्षक, डाइट
मुज़फ्फरपुर, बिहार (2022)

जवाब: ठण्ड के दिनों की बात है, मैं छत पर बैठी धूप का लुत्फ उठा रही थी, कि तभी एक कबूतर आया। पास में कुछ दाने पड़े थे, वो उन्हें चुगने लगा। पर एक बात थी जो मुझे काफी अजीब लगी, वो दानों के साथ-साथ पत्थर भी खा रहा था। बस! फिर क्या था। मेरी तहकीकात शुरू! न जाने कितने लोगों को परेशान करने के बाद यह गुत्थी सुलझ ही गई।

कितनी दिलचस्प बात है कि कुछ खाते वक्त हमारे मुँह में गलती से भी पत्थर आ जाए तो हम परेशान हो जाते हैं और ये इतने छोटे-छोटे कबूतर पत्थर पचा भी लेते हैं। वास्तव में, वे कंकड़-पत्थर को पचाते नहीं बल्कि भोजन को पचाने में उनकी मदद लेते हैं। असल में, इसका ताल्लुक कबूतरों और पक्षियों के दाँत न होने से है। उड़ने के लिए, पक्षियों का हल्का होना बहुत ज़रूरी होता है, और माना जाता है कि इसी क्रमागत विकास की प्रक्रिया के चलते पक्षियों के दाँत नहीं हैं। शरीर को हल्का-फुल्का रखने के लिए उनकी हड्डियाँ भी खोखली (पोली) होती हैं। और भी कई परिवर्तन हुए हैं ताकि वे एक हवाई, फुर्तीला जीवन जी सकें।

खैर, उन सबमें न उलझते हुए यह कहा जा सकता है कि कंकड़-पत्थर पक्षियों में दाँत का काम करते हैं। पक्षियों में एक खास अंग होता है जिसे गिज़र्ड (gizzard) कहते हैं। उनके द्वारा खाए हुए कंकड़-पत्थर

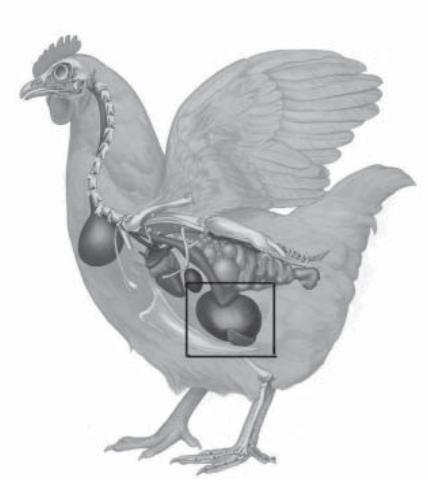

चित्र-1: *लाइन से घेरा हुआ हिस्सा गिज़र्ड है। गिज़र्ड भोजन पीसने के लिए पक्षी के पेट का एक मांसल, मोटी दीवार वाला हिस्सा होता है। पक्षियों द्वारा खाए गए कंकड़-पत्थर इसी में जाते हैं और फिर उनके खाए हुए को पीसने में मदद करते हैं।*

इसी में जाते हैं और फिर उनके खाने को पीसने में मदद करते हैं। गिज़र्ड एक बॉल-मिल की तरह काम करता है – जैसे इलायची को पीसने के लिए हम उसमें थोड़ी शक्कर मिला देते हैं। पीसने के बाद आगे का पाचन आसान हो जाता है क्योंकि छोटे-छोटे टुकड़ों पर पाचक रस ज़्यादा सरलता से काम कर सकते हैं।

अगर हम कबूतर की बात करें तो एक वयस्क कबूतर एक दिन में लगभग 30 ग्राम खाना खा लेता है, जिससे उसे ऊर्जा मिलती है। इसलिए पाचन क्रिया का तेज़ होना काफी आवश्यक हो जाता है और दाँतों की अनुपस्थिति में इनकी मदद करते हैं पत्थर-कंकड़।

तो यह है पक्षियों के पत्थर-कंकड़ खाने का राज़! ऐसे और सवालों के साथ आते रहिए सवालीराम के पास और सुलझाते रहिए अनेकों गुत्थियाँ।

अनमोल जैन: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं। साथ ही, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र. से अँग्रेज़ी साहित्य में स्नातकोत्तर।

– – — – — –

इस बार का सवाल: क्या यह सच है कि उल्लू दिन में नहीं देख पाता?

हाटपिपलिया, ज़िला - देवास,
होशंगाबाद, म.प्र.,1995

आप हमें अपने जवाब sandarbh@eklavya.in पर भेज सकते हैं।

प्रकाशित जवाब देने वाले शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अन्य को पुस्तकों का गिफ्ट वाउचर भेजा जाएगा जिससे वे पिटाराकार्ट से अपनी मनपसन्द किताबें खरीद सकते हैं।

यह छायाचित्र एक रेखीय भोजन शृंखला, जिसमें एक प्राथमिक उत्पादक (*प्लूमेरिया प्यूडिका* का फूल) एक प्राथमिक उपभोक्ता (पतंगा) और एक द्वितीयक उपभोक्ता (क्रेब मकड़ी *मिसयूमीना* जाति की) को दर्शाता है। हमारे आसपास चलने वाली एक भोजन शृंखला का यह एक प्रत्यक्ष सचित्र प्रमाण है। एक प्राथमिक उत्पादक के रूप में *प्लूमेरिया प्यूडिका* प्राथमिक उपभोक्ता को मकरन्द उपलब्ध कराता है, जैसे यहाँ पतंगे को, जो इस फूल का एक परागणकर्ता भी है। यहाँ केकड़ा मकड़ी ने अपने आप को फूल में छुपाया हुआ है जो कि एक मांसभक्षी शिकारी उपभोक्ता है। इसने पतंगे को पकड़ रखा है। केकड़ा मकड़ी अपना रंग पीले से क्रीम तक बदलने में सक्षम होती है। यह जिस फूल पर बैठती है, उसी हिसाब से अपना रंग बदल लेती है। यह एक प्रकार का छद्मावरण है। इस तरह वह अपने शिकार पतंगे से छिपने में समर्थ हो जाती है।

स्कूली शिक्षा के सभी स्तरों पर भोजन शृंखला का अध्ययन एक महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी अवधारणा है। यह एक सम्भव रास्ता है जो यह बताता है कि पारिस्थितिक तंत्र में कैसे ऊर्जा और पोषक पदार्थों का बहाव होता है। यह जानना भी बहुत आवश्यक है कि प्रकृति में कैसे प्रत्येक जाति आपस में एक बड़े खाद्य जाल और पारिस्थितिकी तंत्र के रूप में जुड़ी रहती है। सभी उम्र के विद्यार्थियों के बीच सावधानीपूर्वक किए गए ऐसे अवलोकन प्रकृति की ऐसी घटनाओं को दर्ज करने में उपयोगी हो सकते हैं, जो जैव समुदायों के बारे में उनकी जानकारी और समझ बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं।

- किशोर पंवार

यह छायाचित्र लेखक ने अपने घर के बगीचे में लिया था। वे वनस्पति शास्त्र के सेवानिवृत्त प्राध्यापक, शौकिया छायाकार और लोकप्रिय विज्ञान लेखक हैं तथा *एकलव्य* के रिसोर्स पर्सन भी हैं।

यह छायाचित्र *द अमेरिकन बायोलॉजी टीचर* पत्रिका के वॉल्यूम- 84, नम्बर- 7, सितम्बर 2022 से साभार।

RNI No.: MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, राजेश खिंदरी की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर,
जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (म.प्र.) द्वारा एकलव्य से प्रकाशित तथा
भण्डारी प्रेस, ई-2/106, अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।